

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

## मंगलाचरण

(दोहा)

राजत केवलज्ञान जुत, परम औदारिक काय ।  
निरखि छवि भवि छकत हैं, पी रस सहज सुभाय ॥१॥  
अरहन्त हरिकै अरिन कों, पायो सहज निवास ।  
ज्ञानज्योति परगट भई, ज्ञेय किये परकास ॥२॥  
सकल सिद्ध वंदों सुविधि, समयसार अविकार ।  
स्वच्छ सुछन्द उद्योत नित, लह्यो ज्ञान विस्तार ॥३॥  
ज्ञान स्वच्छ जसु भाव में, लोकालोक समाय ।  
ज्ञेयाकार न परनमें, सहज ज्ञानरस पाय ॥४॥  
अन्त आँचि के पाँचतें, शुद्ध भये शिव-राय ।  
अभेदरूप जे परनमें, सहजानन्द सुख पाय ॥५॥  
जिनमुखतैं उतपति भई, ज्ञानामृत रस धार ।  
स्वच्छ प्रवाह बहे ललित, जग पवित्र करतार ॥६॥  
जिनमुखतैं उतपति भई, सुरति सिन्धुमय सोइ ।  
मैं नमत अद्य हरनतैं, सब कारज सिध होइ ॥७॥  
निर्विकार निर्ग्रन्थ जे, ज्ञान-ध्यान रसलीन ।  
नासा-अग्र जु दृष्टि धरि, करे कर्म-मलछीन ॥८॥  
इह विधि मंगल करनतैं, सब विधि मंगल होत ।  
होत उदंगल दूरि सब, तम ज्यों भानु उद्योत ॥९॥

## अरहन्त का स्वरूप

इष्ट देव तीन प्रकार के हैं ह्व देव, गुरु और धर्म । इनमें देव दो प्रकार के हैं ह्व अरहन्त और सिद्ध; गुरु तीन प्रकार के हैं ह्व आचार्य, उपाध्याय और साधु तथा धर्म एक प्रकार का ही है ।

अरहन्तदेव का स्वरूप ह्व अरहन्तदेव परम-औदारिक शरीर में पुरुषाकार आत्मद्रव्य है । जिन्होंने घातिया कर्ममल का घात किया है, जिन्होंने कर्ममल को धो दिया है, जिन्होंने अनन्त-चतुष्टय की प्राप्ति की है, जिनमें निराकुलित, अनुपम, बाधारहित ज्ञान का रस पूर्णरूप से भरा है तथा जो लोकालोक को प्रकाशित करते हुए भी ज्ञेयरूप परिणमित नहीं होते हैं । एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव को ही धारण करते हैं एवं शान्तरस से अत्यन्त तृप्त हैं ।

जो क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित हैं, जो निर्मल (स्वच्छ) ज्ञान के पिण्ड हैं । जिनके निर्मल ज्ञानस्वभाव में लोकालोक के चराचर पदार्थ स्वयमेव आकर प्रतिबिम्बित होते हैं; मानो भगवान के ज्ञानस्वभाव में ये पदार्थ पूर्व से ही स्थित थे, उनके निर्मल ज्ञानस्वभाव की महिमा वचन-अगोचर है ।

अरहन्तदेव कैसे हैं ? जैसे चाँदी नामक धातु के पिण्ड को साँचे में रखते हैं, वैसे ही अरहन्तदेव चैतन्यधातु के पिण्ड, परम-औदारिक शरीर में स्थित रहते हैं । अरहन्त का आत्मद्रव्य भिन्न है एवं उनका शरीर भिन्न है । मैं उनको हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ ।

परम वीतराग अरहन्तदेव कैसे हैं ? वे अतीन्द्रिय आनन्द के रस का पान करते हैं ह्व आस्वादन करते हैं । जिनके सुख की महिमा का वर्णन करने में हम समर्थ नहीं हैं; परन्तु छद्मस्थों को जानने में आए

उसके लिए निम्नप्रकार की उपमा सम्भव है ह्व

तीनों काल सम्बन्धी बारहवें गुणस्थान के धारक शुद्धोपयोगी महामुनियों के आत्मिकसुख से अनन्तगुना सुख केवली भगवान के एक समय में उत्पन्न होता है । केवली भगवान के सुख की जाति ही भिन्न है; क्योंकि वह तो अतीन्द्रिय, क्षायिक, सम्पूर्ण एवं स्वाधीन सुख है और छद्मस्थ का सुख इन्द्रिय-जनित, अपूर्ण तथा पराधीन है, इसमें सन्देह नहीं ।

वे केवलज्ञानी कैसे हैं ? केवल एक निज स्वच्छ ज्ञान के पुञ्ज हैं, जिनमें और भी अनन्त गुण भरे हैं ।

तीर्थकर अरहन्तदेव कैसे हैं ? अपने उपयोग को अपने स्वभाव में लीन किया है । जिसप्रकार नमक की डली पानी में गल जाती है, उसी-प्रकार केवली भगवान का उपयोग स्वभाव में गल गया है, अतः वे नियम से बाहर निकलने में असमर्थ हैं । वे आत्मिक-सुख में अत्यन्त रत/लीन हुए हैं, जिसका रस पीते हुए तृप्त नहीं होते हैं अर्थात् अत्यन्त तृप्त हैं ।

हे भगवन् ! आपकी महिमा अथाह है, आपके गुणों की महिमा देख-देखकर आश्चर्य उत्पन्न होता है, आनन्द के समूह उत्पन्न होते हैं; उससे हम अत्यन्त तृप्त हैं । हे भगवन् ! दया-अमृत से भव्यजीवों का आप ही पोषण करते हो, आप ही उन्हें तृप्त करते हो ।

आपके उपदेश बिना सर्व लोकालोक शून्य हो गया । उसमें ये समस्त जीव शून्य हो गए हैं । अब आपके वचनरूपी किरणों से मेरा अनादिकाल का मोह-तिमिर समाप्त हो गया है । अब मुझे आपके प्रसाद से तत्त्व-अतत्त्व का स्वरूप प्रतिभासित हुआ है । आपके उपदेश से मेरे ज्ञान-लोचन खुल गए हैं, उसके सुख की महिमा हमसे नहीं कही जा सकती ।

हे भगवन् ! संसार संकट को काटने के लिए आप ही अकारण,

अद्वितीय, परम वैद्य दिखते हो; इसलिए आपके चरणारविन्द में बहुत अनुराग वर्तता है।

हे भगवन् ! भव-भव/पर्याय-पर्याय में प्रत्येक में एक आपके चरणों की सेवा ही मैं प्राप्त करूँ हूँ यह भावना है। वे पुरुष धन्य हैं जो आपके चरणों की सेवा करते हैं, आपके गुणों की अनुमोदना करते हैं तथा आपके रूप को देखते हैं, आपका गुणानुवाद करते हैं, आपके वचनों को सुनते हैं, मन में निश्चय/निर्णय कर धारण करते हैं और आपकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं।

आपके चरणों के बिना और किसी को नमन नहीं करते हैं। आपके ध्यान सिवाय अन्य का ध्यान नहीं करते हैं। आपके चरण पूजते हैं, आपके चरणों में अर्घ्य देते हैं, आपकी महिमा गाते हैं, आपके चरण तले की रज/धूल व गन्धोदक मस्तक एवं नाभि के ऊपर उत्तम अंगों में लगाते हैं। आपके सन्मुख खड़े होकर हस्त-अंजुली जोड़कर नमस्कार करते हैं, आपके ऊपर चँवर ढोरते हैं, क्षत्र चढ़ाते हैं; वे ही पुरुष धन्य हैं।

आपके भक्तों की महिमा इन्द्रादिक देव गाते हैं। आपके भक्त कृतकृत्य हैं, वे ही पवित्र हैं, उन्हीं ने मनुष्य भव का लाभ लिया, जन्म सफल किया तथा भवसमुद्र को जलांजलि दी।

हे जिनेन्द्र देव ! हे कल्याण पुञ्ज ! हे त्रिलोक तिलक ! अनन्त महिमा लायक, परम भट्टारक, केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप युगल नेत्र के धारक, सर्वज्ञ वीतराग आप जयवन्त प्रवर्तो, आपकी महिमा जयवन्त प्रवर्ते, आपका राज्य-शासन जयवन्त प्रवर्ते।

धन्य यह मेरी पर्याय, क्योंकि इस पर्याय में आपके समान अद्वितीय पदार्थ पाया। उसकी अद्भुत महिमा किससे कहें ? आप ही माता, आप ही पिता, आप ही बान्धव, आप ही मित्र, आप ही परम उपकारी हो; आप ही छह काय के जीवों की हिंसा के परिहारी, आप ही भव-

समुद्र में पड़ते/गिरते हुए प्राणी के आधार हो। आप जैसा और कोई त्रिकाल में नहीं है। आप ही आवागमन से रहित करने में समर्थ हो, मोहरूपी पर्वत को फोड़ने में आप ही वज्रायुध हो।

घातिया कर्मों को चूर करने में आप ही अनन्त बलशाली हो। हे भगवन् ! आपने दोनों हाथ लम्बे ही नहीं पसारे हैं, वरन् अन्य जीवों को संसारसमुद्र से निकालने के लिए हस्तावलम्बन दिया है।

हे परमेश्वर ! हे परम ज्योति ! हे चिद्रूप मूर्ति ! आप आनन्दमय, अनन्त चतुष्टय से मण्डित, अनन्त गुणों से पूरित, वीतराग मूर्ति, आनन्द रस से आह्लादित, महामनोज्ञ, अद्वैत, अकृत्रिम, अनादि-निधन और त्रैलोक्य पूज्य हो। आप ऐसे अलौकिकरूप से शोभायमान होते हैं कि जिससे आपके अवलोकन से मन और नेत्र दोनों तृप्त नहीं हो पाते हैं।

उनके शरीर की सौम्यदृष्टि ध्यानमय, अकम्प, आत्मिकप्रभाव से ऐसी शोभायमान है, मानो भव्यजीवों को उपदेश ही दे रही हो !

**क्या उपदेश देती है ?** “हे भव्यजीवो ! अपने स्वरूप में लगो, विलम्ब मत करो, शान्तरस का पान करो” हूँ इस भाँति संकेत कर भव्यजीवों को अपने स्वरूप में लगाती है। इस निमित्त को पाकर अनेक जीव संसार-समुद्र से तिरते हैं, अनेक जीव आगे तिरेंगे तथा वर्तमान में तिरते देखे जाते हैं हूँ ऐसे **परम-औदारिक शरीर को भी हमारा नमस्कार हो।**

जिनेन्द्रदेव तो आत्मद्रव्य ही हैं; परन्तु आत्मद्रव्य के निमित्त से शरीर की भी स्तुति उचित है। भव्यजीवों को मुख्यरूप से शरीर का ही उपकार है। अतः शरीर की स्तुति एवं उसे नमस्कार करना भी उचित है। जैसे कुलाचलों के मध्य मेरु शोभायमान है, वैसे ही गणधरो एवं इन्द्रों के मध्य तीर्थकर अरहन्त भगवान शोभायमान हैं हूँ ऐसे श्री अरहन्त देवाधिदेव इस ग्रन्थ को पूर्ण करें।

प्रथम तो वे सर्वज्ञ हैं, उनके ज्ञान में समस्त लोकालोक के त्रिकाल सम्बन्धी चराचर पदार्थ एक समय में झलकते हैं ह ऐसी तो ज्ञान की प्रभुत्व शक्ति है।

वे वीतरागी भी हैं। मात्र सर्वज्ञ होते और वीतरागी नहीं होते तो उनमें परमेश्वरपना सम्भव नहीं होता तथा यदि मात्र वीतरागी होते और सर्वज्ञ न होते तो भी पदार्थों के स्वरूप की अज्ञानता से सम्पूर्ण जानने में कैसे समर्थ होते ? इन दो दोषों से संयुक्त को परमेश्वर कौन मानता ?

इसलिए जिनमें ये दो दोष ह एक तो राग-द्वेष और दूसरा अज्ञान नहीं है, वे ही परमेश्वर हैं और वे ही सर्वोत्कृष्ट हैं। इन दोनों दोषों से रहित एक अरहन्तदेव ही हैं, अतः वे ही सर्वप्रकार से पूज्य हैं।

यदि वे सर्वज्ञ, वीतराग भी होते और तारने को समर्थ न होते तो प्रभुत्वपने में कमी रह जाती है; इसलिए उनमें तारणशक्ति भी पाई जाती है।

कुछ जीव तो भगवान का स्मरण करके ही भवसमुद्र से तिरते हैं, कुछ भक्ति से ही तिरते हैं, कुछ स्तुति से ही तिरते हैं और कुछ ध्यान करके ही तिरते हैं ह इत्यादि एक गुण की आराधना कर मुक्ति प्राप्त करते हैं।

भगवान को खेद उत्पन्न नहीं होता, ऐसी महन्त पुरुषों की अत्यन्त महान शक्ति है। उन्हें स्वयं को तो उपाय नहीं करना पड़ता, उनके अतिशय से ही उनके सेवक का स्वयमेव ही भला हो जाता है।

प्रतिकूल/विरोधी पुरुषों का स्वयमेव बुरा हो जाता है। यदि पुरुष शक्तिहीन हो तो शिथिल होकर दूसरों का भला-बुरा करना चाहे; परन्तु उससे कार्य सिद्ध होगा ही ह ऐसा नियम नहीं है, होने योग्य ही होता है।

अरहन्तदेव अनन्त गुणों से शोभित हैं। भव्यजीवों के पुण्य के उदय से आपकी दिव्यध्वनि इस भाँति प्रकट हुई है कि एक अन्तर्मुहूर्त में ऐसा तत्त्वोपदेश करे कि यदि उसकी रचना को शास्त्रों में लिखें तो

उन शास्त्रों से यह अनन्त लोक भर जाए। अतः हे भगवन् ! आपके गुणों की महिमा कैसे करें ?

हे भगवन् ! आपकी वाणी का अतिशय ऐसा है कि वाणी खिरती तो है अनक्षररूप और अनुभय भाषारूप; किन्तु भव्यजीवों के कान के निकट जाकर पुद्गल-वर्गणा इसप्रकार शब्दरूप परिणमन कर जाती है कि असंख्यात चार प्रकार के देव और देवांगनाओं ने जो संख्यात वर्ष पर्यन्त प्रश्न विचारे थे तथा संख्यात मनुष्य एवं तिर्यञ्चों ने जो प्रश्न बहुत काल पर्यन्त विचारे थे, उनको वह वाणी अपनी-अपनी भाषामय प्रश्नों के उत्तररूप हो जाती है। इसके उपरान्त भी अनेक वाक्यों का उपदेश होता रहे, तो भी बाद में अनन्तानन्त तत्त्वों का निरूपण करने में सफल ही होती है।

जिसप्रकार मेघ तो अपरम्पार एक जाति के जल की वर्षा करे, पश्चात् आड़ू और नारियल जाति के वृक्ष अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार जल ग्रहण कर, अपने-अपने स्वभावरूप से परिणमन करते हैं। नदी-तालाब, कुआँ-बावड़ी आदि जलाशय अपनी योग्यतानुसार जलधारण करें और बहुत-से मेघों का जल फलवान होता है, इसीप्रकार जिनवाणी का उपदेश जानना चाहिए।

अरहन्तदेव का उपदेश ह उस वाणी में भगवान ने इस भाँति उपदेश दिया है कि ह षट्द्रव्य अनादि-निधन हैं। इनमें पाँच द्रव्य अचेतन/जड़ हैं। जीव नामक पदार्थ चेतनद्रव्य है। उनमें पुद्गल मूर्तिक और शेष पाँच अमूर्तिक हैं। इन्हीं छह द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं।

जहाँ एक आकाशद्रव्य ही पाया जाए, पाँच द्रव्य न पाए जाएँ; उसे अलोकाकाश कहते हैं। लोक-अलोक का समुदायरूप एक आकाश-द्रव्य अनन्तप्रदेशी है। तीन लोक प्रमाण असंख्यातप्रदेशी एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है। काल के कालाणुद्रव्य असंख्यात एक-एक

प्रदेशमात्र हैं। जीवद्रव्य अनन्त हैं। एक जीवद्रव्य तीन लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशों के समूहवाला है और उनसे भी अनन्तान्तगुने प्रदेश के आकार को धारण किए हुए पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं।

इनमें चार द्रव्य तो अनादि से स्थिर, ध्रुवरूप स्थित हैं। जीव और पुद्गलद्रव्य गमनागमन भी करते हैं। यह तीनों लोक, आकाशद्रव्य के मध्य में स्थित हैं। इनका कर्त्ता और कोई नहीं है, अपितु ये छहों द्रव्य अनादिकाल से अनन्तकाल पर्यन्त स्वयंसिद्ध स्थित बने हुए हैं।

जीव अपने रागादि भावों से पुद्गलपिण्डरूप प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ह्व ऐसे चार प्रकार के बन्ध से बँधता है। उसके उदय में जीव की दशा विभावभावरूप होती है।

जीव निज स्वभाव से ज्ञानानन्दरूप अनन्तसुख का पुञ्ज है, तो भी कर्म के उदय से महा-आकुलतारूप परिणमता है। उसके दुःख की वार्ता कहने की सामर्थ्य नहीं है। उस दुःख की निवृत्ति के अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य हैं, उनके उपदेश को कहनेवाले आप अरहन्त-देव ही हैं।

आप ही संसार-समुद्र में डूबते हुए प्राणी को हस्तावलम्ब हैं। आपका उपदेश न होता तो भी सर्व प्राणी संसार में ही डूबे रहते तो बड़ा अनर्थ हो जाता, परन्तु आप धन्य ! आपका उपदेश धन्य ! आपका जिनशासन धन्य ! आपका बताया हुआ मोक्षमार्ग धन्य ! आपका अनुसरण करनेवाले मुनि आदि सत्पुरुष धन्य ! उनकी महिमा करने में हम समर्थ नहीं हैं।

कहाँ तो नरक-निगोद आदि के दुःख और ज्ञान-वीर्य की न्यूनता तथा कहाँ मोक्ष का सुख और ज्ञान-वीर्य की अधिकता ? हे भगवन् ! आपके प्रसाद से यह जीव चतुर्गति के दुःखों से छूटकर मोक्षसुख को पाता है। ऐसे परम उपकारी आप ही हो, इसलिए हम आपको नमस्कार करते हैं।

अब अरहन्त भगवान की स्तुति करने का विधान कहते हैं ह्व जैसे राजादि बड़े महन्त पुरुषों से कोई दीन पुरुष अपने दुःख की निवृत्ति हेतु जाकर, सामने खड़ा होकर, मुख के आगे भेंट रखकर इसप्रकार का वचनालाप करे ह्व पहले तो राजा की बढ़ाई करे, पश्चात् अपने दुःख की निवृत्ति की वांछा करता हुआ इसप्रकार कहे ह्व “यह मेरा दुःख निवृत्त कीजिए”, पश्चात् वे कृपा कर इसके दुःख की निवृत्ति करें; उसीप्रकार यह संसारी परम दुःखी आत्मा दीन, मोह कर्म से पीड़ित श्रीजी के निकट जाकर खड़ा हो, भेंट आगे रख, पहले तो श्रीजी की महिमा का सुन्दर वर्णन करे, श्रीजी का गुणानुवाद करे; पश्चात् स्वयं को अनादिकाल से जो मोह कर्म ने घोरानघोर नरक-निगोदादि के दुःख दिए, उनका निर्णय करे।

पश्चात् उनकी निवृत्ति के लिए यह प्रार्थना करे ह्व “हे भगवन् ! ये अष्ट कर्म मेरे साथ लगे हैं, मुझे महा तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं, मेरे स्वभाव का घात कर उसे मैला किया है, उसके दुःख की बात मैं कहाँ तक कहूँ ? अतः अब इन दुष्टों को मार गिराइये और मुझे निर्भय स्थान मोक्ष दीजिए, जिससे मैं चिरकाल पर्यन्त सुखी हो जाऊँ।” इसके पश्चात् भगवान के प्रताप से यह जीव सहज ही सुखी होता है और मोह कर्म सहज ही गल जाता है।

A-AhīV^JhZHSsīW{VHm {dof dUZH\$avohy•

“जय जय, तुम्हारी जय, जय भगवान, जय प्रभु, जय नाथ, जय करुणानिधि, जय त्रिलोकीनाथ, जय संसार-समुद्र तारक, जय भोगों से पराङ्गमुख, जय वीतराग, जय देवाधिदेव, जय सच्चे देव, जय सत्यवादी, जय अनुपम, जय बाधा रहित, जय सर्व तत्त्वप्रकाशक, जय केवलज्ञान-चारित्र्य, जय त्रिलोक शान्तिमूर्ति, जय अविनाशी, जय निरंजन, जय निराकार, जय निर्लोभ, जय अतुल महिमा भण्डार, जय अनन्त दर्शन,

जय अनन्त ज्ञान, जय अनन्त सुख से मण्डित, जय अनन्तवीर्य धारक, जय संसार शिरोमणि तथा हे गणधर देवों और सौ इन्द्रों से पूज्य ! तुम जयवन्त प्रवर्तों, तुम्हारी जय हो, तुम्हारी बहुत वृद्धि हो ।”

“जय परमेश्वर, जय सिद्ध, जय आनन्द पुंज, जय आनन्द मूर्ति, जय कल्याण पुंज, जय संसार-समुद्र के पारगामी, जय भवजलधि-जहाज, जय मुक्ति-कामिनी कन्त, जय केवल ज्ञान-केवल लोचन, जय परम पुरुष परमात्मा, जय अविनाशी, जय टंकोत्कीर्ण, जय विश्वरूप, जय विश्वत्यागी, जय विश्वज्ञायक, जय ज्ञान से लोकालोक प्रमाण एवं तीन काल प्रमाण, जय अनन्त-गुण भण्डार, जय अनन्त गुण-खान, जय चौंसठ ऋद्धि के ईश्वर, जय सुख-सरोवर-रमण, जय सम्पूर्ण सुख से तृप्त एवं सर्व दुःखों से रहित, जय अज्ञानतिमिर के विध्वंसक, जय मिथ्यावज्र को फोड़ने को एवं चकचूर करने को परम वज्र, जय तुंगशीर्ष ह्व तुम्हारी जय हो ।”

“आप ज्ञानानन्द बरसाने, अमोघ ताप को दूर करने एवं भव्यजीवों-रूपी खेती का पोषण करनेवाले; ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य के अंगोपांग सहित तीन लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं, परन्तु तीन लोक को एक परमाणु मात्र भी खेद उत्पन्न नहीं करते हैं ।”

हे भगवन् ! मैं आपके उपकार को नहीं भूला हूँ, इसलिए दयाबुद्धि हेतु मैं आपके पास थोड़ी देर बैठा हूँ, किन्तु मैं भगवान के अनन्तवीर्य का भार मस्तक के ऊपर कैसे धारण करूँगा ? इसका भार मेरे बूते (मेरी अल्पशक्ति से) कैसे सहा जायेगा ?”

“हे भगवन् ! आप अनन्तबली और मैं असंख्यातबली; मेरे ऊपर अनन्तबली का भार कैसे ठहरे ? इसलिए मैं आगे जाकर आपकी सेवा करता हूँ। आप तो परम दयालु हैं, अतः मुझे खेद उत्पन्न नहीं करते हैं, अब यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। भगवान तो वृष्टि करने हेतु मेघ

सदृश्य हैं ।”

“अहो भगवन् ! आकाश में यह सूर्य विराज रहा है; वह क्या है, मानो आपकी ध्यानरूपी अग्नि की कणिका ही है अथवा आपके नख की लालिमा का आकाशरूपी दर्पण में एक प्रतिबिम्ब ही है ।”

“अहो भगवन् ! आपके मस्तक के ऊपर तीन छत्र शोभायमान हैं, इसलिए मानो छत्र के बहाने तीन लोक ही सेवन करने को आया है। हे भगवन् ! आपके ऊपर चौंसठ चमर दुरते हैं, अतः मानो चँवरों के बहाने इन्द्रों का समूह ही नमस्कार करता है। हे भगवन् ! यह आपका सिंहासन ऐसा शोभायमान होता है, मानो यह सिंहासन नहीं है; अपितु यह तीन लोक का समुदाय ही एकत्र होकर आपके चरण-कमलों की सेवा करने आया हो ।”

“आपकी सेवा सन्त कैसे करते हैं ? हे भगवन् ! आप जो अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए हैं, सो सिद्ध अवस्था में मेरे मस्तक के ऊपर या कन्धे के ऊपर विराजमान होंगे। अहो भगवन् ! यह जो आपके ऊपर अशोकवृक्ष सुशोभित होता है, वह त्रिलोक के जीवों को शोक रहित करता है ।”

हे जिनेन्द्र देव ! आपके चरण-कमलों की लालिमा किसप्रकार है ? मानो केवलज्ञानादि का उदय करवाने हेतु सूर्य का ही वहाँ उदय हुआ है अथवा भव्यजीवों के कर्म-काष्ठ को जलाने के लिए आपकी ध्यानाग्नि की चिनगारी प्राप्त हुई है, जो अग्निरूप हुई है, अन्य कुछ नहीं ।”

“अथवा आप कल्याण वृक्ष की कोंपल ही हैं अथवा चिन्तामणि-रत्न, कल्पवृक्ष, चित्रावेली, कामधेनु, रसकूप का पारस तथा इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र, नारायण, बलभद्र, तीर्थकर, चार निकाय के देव, राजाओं के समूह और समस्त उत्कृष्ट पदार्थ तथा मोक्ष देने का एक पात्ररूप परम उत्कृष्ट निधि ही हैं ।

**भावार्थ** ह “आपके चरणों की आराधना से सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है, इसलिए आपके चरण ही सर्वोत्कृष्ट निधि हैं। आपके नेत्रों में ऐसा आनन्द बसता है, जिसके एक अंश मात्र आनन्द के टुकड़े से चार जाति के देवताओं का शरीर उत्पन्न हुआ है।”

“आपके शरीर की महिमा कहने में त्रिलोक में कौन समर्थ है ? परन्तु लाड़ला पुत्र होवे तो माता-पिता को जैसा चाहे बोले, परन्तु माता-पिता उसको बालक जानकर उससे प्रीति ही करें, उसकी इच्छानुसार मिष्ट वस्तु मँगाकर खाने को दें। अतः हे भगवन् ! आप मेरे प्रकट माता-पिता समान हो, मैं आपका लघु पुत्र हूँ। मुझे लघु बालक जानकर मेरे ऊपर क्षमा करो।”

“हे भगवन् ! हे प्रभु ! आपके समान मेरा अन्य कोई स्वामी नहीं। हे भगवन् ! मोक्ष-लक्ष्मी के कन्त आप ही हो, आपके चरणारविन्दों का सेवन कर अनेक जीव पार हुए हैं, अभी पार हो रहे हैं, आगे भी पार होंगे। हे भगवन् ! दुःख दूर करने को आप ही समर्थ हैं।”

“हे भगवन् ! हे प्रभु जिनेन्द्र देव !! आपकी महिमा अगम्य है। हे भगवन् ! आप समवशरण लक्ष्मी से विरक्त हो, कामबाण के विध्वंसक हो, मोहमल्ल को पछाड़ने के लिए आप ही अद्वितीय मल्ल हो तथा जो जरादि को एवं त्रिलोक के जीवों को काल (वृद्धावस्थारूपी काल) निगलता हुआ, गिराता हुआ चला आ रहा है; इसे पछाड़ने में अन्य कोई समर्थ नहीं है।

“समस्त लोक के जीव काल की दाढ़ में बसते हैं। निर्भय हुआ यह काल उनको अपनी दाढ़ से चबाता हुआ निगलता रहता है, आजतक भी तृप्त नहीं हुआ है। उसकी दुष्टता और प्रबलता से कौन अधिक समर्थ है ? उसे आपने क्षणमात्र में, क्रीड़ामात्र में ही जीत लिया है। हे भगवन् ! आपको हमारा नमस्कार हो।”

“ho^jZ? ! AmH\$M\$U\$H\$| Hb\$gā wLAnZora\_oon;ja n{dihE, AmH\$ē\$H\$H\$Adm\$Z\$H\$VohEZoIn{dihE, AmH\$ JwH| Hs\_ {hmAmānW|VH\$VohE {Om{dihE, AmH\$JwH| H\$ns{°\$H\$ān\_aUH\$VohE\_Zn{dihE, AmH\$JwH|ZvH\$H\$no gwZogH\$Zn{dihE, WmAmH\$JwH| H\$AZwnoZnH\$VohE\_Zna\_n{dihEAm&’

“हे भगवन् ! मैं आपके चरणों को अष्टांग नमस्कार करता हुआ सर्वांग पवित्र हुआ हूँ। हे जिनेन्द्र देव ! धन्य आज का दिन ! धन्य आज की घड़ी ! धन्य यह माह ! धन्य यह संवत्सर वर्ष ! जो इस काल में मैं आपके दर्शन करने को सम्मुख हुआ हूँ। हे भगवन् ! आपके दर्शन करने से मुझे ऐसा आनन्द हुआ मानो, नौ-निधियाँ पाई हों या चिन्तामणि रत्न पाया हो अथवा कामधेनु, चित्रावेलि घर में आई हो। मानो कल्पतरु मेरे आँगन में ही उदित हुआ हो एवं पारस की प्राप्ति हुई है।

अथवा जिनराज ने निरन्तराय मेरे हाथ से आहार लिया हो एवं तीन लोक का राज ही मैंने पाया हो अथवा आज ही मुझे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई हो। सम्यक्त्व रत्न तो मुझे सहज ही उत्पन्न हुआ है ऐसे सुख की महिमा को मैं क्यों न कहूँ!”

“ho^jZ? ! AmH\$JwH| Hs\_ {hmH\$ndCZ\$H\$VohE {Om VāZt hmoV&AmH\$ē\$H\$H\$Adm\$Z\$H\$VohEZoI VāZt hmoV&ho^jZ? ! \_camByg`H;\$mC\$H\$Si>nE H\$CX Animh; Amā {H\$āH\$H\$H\$H\$ānāhE, {O\$H\$ {Z{ \_imgogm}H\$Si> I;loS`nyA`Xod\_ζZomio&Y`\_cam`h\_Zwî`d! OmAmH\$ XēZH\$Zogog\ShpAm&nyC\_|AZVnìnC\_| AmH\$XēZ {-Zn {Zi\$obY&’

“अहो भगवन् ! आपने पूर्व में तीन लोक की सम्पदा जीर्ण तृणवत्

छोड़ी। संसार-देह-भोग से विरक्त होकर संसार को असार जान, मोक्ष को उपादेय जान स्वयं जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। तत्काल ही मनःपर्यय ज्ञानसूर्य का उदय हुआ। इसके बाद शीघ्र ही निरावरण केवलज्ञान सूर्य का उदय हुआ, जिसमें लोकालोक के अनन्त पदार्थ संयुक्त, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को लिए, तीन काल के समस्त चराचर पदार्थ एक समय में आपके ज्ञानरूपी दर्पण में सहज स्वयमेव ही झलकते हैं। उसकी महिमा अपनी सहस्र जिह्वाओं से इन्द्र तथा वचन-ऋद्धि के धारी गणधरादि महायोगीश्वर भी नहीं कर सकते हूँ इसप्रकार अरहन्त परमेष्ठी की महिमा का वर्णन कर स्तुति की।।”

जिनवाणी का उद्गम हूँ आगे सरस्वती अर्थात् जिनवाणी की महिमा एवं स्तुति करते हैं, इसलिए हे भव्य! तुम सुनो हूँ यह जिनवाणी जिनेन्द्रदेव के हृदयरूपी सरोवर में उत्पन्न हुई। वहाँ से आगे चलकर जिनेन्द्रदेव के मुखारविन्द से निकलकर गणधर देवों के कानों में जाकर पड़ी। वहाँ से आगे चलकर गणधर देवों के मुखारविन्द से निकली। आगे चलकर यह धारा श्रुतसागर में जाकर मिली है अर्थात् आगम कहलाई।

भावार्थ हूँ यह जिनवाणी गंगा नदी की उपमा धारण करती है। यह वाणी स्याद्वाद-लक्षण से अंकित है एवं दया-अमृत से भरी है तथा चन्द्रमा समान उज्ज्वल और निर्मल है।

जिस भाँति चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्रवंशी कमलों को प्रफुल्लित करती है तथा सभी जीवों के आताप को हरती है, उसी भाँति जिनवाणी, भव्यजीव रूपी कमलों को प्रफुल्लित करती है, आनन्द उत्पन्न करती है तथा भव-आताप को दूर करती है।

जिनवाणी की महिमा हूँ जिनवाणी जगत की माता है, सभी जीवों को हितकारी है, परम पवित्र है एवं कुवादीरूपी हाथी का विदारण और

परिहार करने के लिए वादितऋद्धि के धारी महामुनिरूपी शार्दूल/सिंह की माता है।

जिनप्रणीत वाणी कैसी है? अज्ञान-अन्धकार का विध्वंस करने के लिए जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य की किरण ही है अथवा ज्ञानामृत की धार बरसाने के लिए मेघमाला के समान है हूँ इत्यादि अनेकप्रकार की महिमा को धारण करती है हूँ ऐसी जिनवाणी को मेरा नमस्कार हो। यहाँ स्वरूपानु-भवन का विचार मैंने किया है; उससे इस कार्य की सिद्धि ही है।

हूँ इसप्रकार जिनवाणी की स्तुति एवं महिमा का वर्णन किया।



### अरहंतों का स्वरूप

वहाँ प्रथम अरहंतों के स्वरूप का विचार करते हैं हूँ जो गृहस्थपना त्यागकर, मुनिधर्म अंगीकार करके, निजस्वभावसाधन द्वारा चार घातिकर्मों का क्षय करके हूँ अनंतचतुष्टयरूप विराजमान हुए; वहाँ अनंतज्ञान द्वारा तो अपने अनंतगुण-पर्याय सहित समस्त जीवादि द्रव्यों को युगपत् विशेषपने से प्रत्यक्ष जानते हैं, अनंतदर्शन द्वारा उनका सामान्य अवलोकन करते हैं, अनंतवीर्य द्वारा ऐसी सामर्थ्य को धारण करते हैं, अनंतसुख द्वारा निराकुल परमानन्द का अनुभव करते हैं। पुनश्च, जो सर्वथा राग-द्वेषादि विकारभावों से रहित होकर शांतरसरूप परिणमित हुए हैं; तथा क्षुधा-तृषादि समस्त दोषों से मुक्त होकर देवाधिदेवपने को प्राप्त हुए हैं तथा आयुध-अंबरादिक व अंगविकारादिक जो काम-क्रोधादि निंद्यभावों के चिह्न उनसे रहित जिनका परम औदारिक शरीर हुआ है तथा जिनके वचनों से लोक में धर्मतीर्थ प्रवर्तता है, जिसके द्वारा जीवों का कल्याण होता है तथा जिनके लौकिक जीवों के प्रभुत्व मानने के कारणरूप अनेक अतिशय और नानाप्रकार के वैभव का संयुक्तपना पाया जाता है तथा जिनका अपने हित के अर्थ गणधर-इन्द्रादिक उत्तम जीव सेवन करते हैं हूँ ऐसे सर्वप्रकार से पूजने योग्य श्री अरहंतदेव हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

हूँ मोक्षमार्गप्रकाशक : पहला अधिकार, पृष्ठ - २



## सिद्ध का स्वरूप

अब मोक्षसुख का वर्णन करते हैं ह

‘ॐ श्री सिद्धेभ्यः नमः’ ह श्रीगुरु के निकट शिष्य प्रश्न करता है ह  
“हे स्वामी ! हे नाथ ! हे कृपानिधि ! हे दयानिधि ! हे परम उपकारी ! हे संसारसमुद्र तारक ! भोगों से परान्मुख ! आत्मिकसुख में लीन ! आप मुझको सिद्धपरमेष्ठी के सुख का स्वरूप कहो ।”

वह शिष्य कैसा है ? महाभक्तियान है और जिसके एकमात्र मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा है । विशेषप्रकार से यह श्रीगुरु की तीन प्रदक्षिणा देकर, हस्तकमल मस्तक से लगाकर, हाथ जोड़कर, गुरु का समय पाकर, बार-बार दीनता और विनयपूर्वक वचन कहकर मोक्ष के सुख को पूछता है ।

तब श्रीगुरु कहते हैं ह “हे पुत्र ! हे भव्य ! हे आर्य ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया, अब तुम सावधान होकर सुनो !” ह

यह जीव शुद्धोपयोग के माहात्म्य से केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्धक्षेत्र में विराजमान होता है । यह चरमशरीर से किंचित् न्यून-आकार को धारण किए सिद्धक्षेत्र में जाकर शाश्वत विराजता है । एक-एक सिद्ध की अवगाहना में अनन्तानन्त सिद्ध भगवान भिन्न-भिन्न विराजते हैं, कोई किसी से मिलता नहीं है ।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? उनकी आत्मा में लोकालोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्याय सहित एक समय में युगपत् झलकते हैं । उनके चरण-युगल को मैं नमस्कार करता हूँ ।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? वे परम पवित्र हैं, परम शुद्ध हैं और आत्मिकस्वभाव में लीन हैं । परम अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित, निराकुलित, स्वरस को निरन्तर, अखण्डरूप से पीते हैं । उसमें अन्तर नहीं

होता है ।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? वे असंख्यातप्रदेशी, चैतन्यधातु के पिण्ड, अगुरुलघुरूप को धारण किए, अमूर्तिक आकार से युक्त हैं । उन्हें सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न दिखते हैं ।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? वे निःकषाय हैं, आवरण से रहित हैं । उन्होंने घातिया-अघातिया कर्ममल को धो डाला है । अपना ज्ञायक-स्वभाव प्रकट किया है । प्रतिसमय षट्गुण हानि-वृद्धिरूप परिणमते हैं । अनन्तानन्त आत्मिकसुख का आस्वादन करते हुए तृप्त नहीं होते हैं अथवा अत्यन्त तृप्त हैं, अब उनको कुछ चाह नहीं रही ।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? वे अखण्ड, अजर, अविनाशी, निर्मल हैं; शुद्ध हैं; चैतन्यस्वरूप एवं ज्ञानमूर्ति हैं; ज्ञायक, वीतराग और सर्वज्ञ हैं । सर्व तत्त्वों के जाननेवाले हैं; सहजानन्द हैं; सर्व कल्याण के पुञ्ज हैं; त्रैलोक्यपूज्य हैं; सर्व विघ्नों के हरण करनेवाले हैं । गृहस्थदशा में श्री तीर्थकरदेव भी उनको नमस्कार करते हैं । मैं भी उन्हीं के गुणों की प्राप्ति के लिए बारम्बार हस्तकमल मस्तक से लगाकर उन्हें नमस्कार करता हूँ ।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? वे देवाधिदेव हैं । देवसंज्ञा सिद्ध भगवान के लिए ही शोभित होती है । चार परमेष्ठी को गुरुसंज्ञा है, देवसंज्ञा नहीं तथा वे सर्व तत्त्वों को प्रकाशित करते हुए भी ज्ञेयरूप नहीं परिणमते हैं, अपने स्वभावरूप ही रहकर ज्ञेयों को इसप्रकार जानते हैं मानो ये समस्त ज्ञेय पदार्थ उनके शुद्धज्ञान में डूब गए हैं या मानो उनको वे उखाड़कर पूर्णरूप से निगल गए हैं या अवगाहन शक्ति में समा गए हैं या मानो आचरण में समा गए हैं या मानो स्वभाव में आकर बस गए हैं या मानो तादात्म्य होकर परिणमते हैं या मानो प्रतिबिम्बित हुए हैं या मानो पाषाण में ही उत्कीर्ण हो गए हैं या चित्राम के चितरे हैं या मानो स्वभाव में आकर प्रवेश

किया है !

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? जिनके असंख्यातप्रदेश शान्तिरस से भरे हैं, ज्ञानरस से आह्लादित हैं; जिनके समस्त प्रदेशों में शुद्धामृत झरता है तथा अखण्ड धारा-प्रवाहरूप से बहता रहता है ।

जिसप्रकार चन्द्रमा के विमान में अमृत झरता है, वह औरों को आनन्द-आह्लाद उत्पन्न करता है, आताप को दूर करता है तथा सबको प्रफुल्लित करता है; उसीप्रकार सिद्ध भगवान स्वयं तो ज्ञानामृत का पान करते हैं तथा औरों को भी आनन्दकारी हैं । जिनका नाम लेने एवं ध्यान करने से ही भवरूपी आताप विलीन हो जाता है, परिणाम शान्त होते हैं और स्व-पर की शुद्धता होती है, ज्ञानामृत का पान होता है तथा निजस्वरूप की प्रतीति आती है ह्व ऐसे सिद्ध भगवान को हमारा बारम्बार नमस्कार हो ।

ऐसे सिद्ध भगवान जयवन्तरूप प्रवर्तन करें तथा मुझे संसार-समुद्र से निकालें, संसार में डूबने से मेरी रक्षा करें, मेरे अष्टकर्मों का नाश करें, मेरे कल्याण के कर्ता हों, मुझे मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति कराएँ, मेरे हृदय में निरन्तर वास करें तथा मुझे अपने समान करें ।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? जिनके जन्म-मरण नहीं, जिनके शरीर नहीं, जिनका विनाश नहीं और जिनका संसार में वापिस आगमन नहीं, जो अपने ज्ञान और प्रदेशों में अकम्प हैं । अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व एवं चेतनत्व आदि अनन्त गुणों से पूर्ण भरे हुए हैं, इसीलिए अन्य अवगुणों को आने के लिए स्थान नहीं ह्व ऐसे सिद्ध भगवान को पुनः मेरा नमस्कार हो ह्व ऐसे सिद्धपरमेष्ठी के स्वरूप में अन्तर नहीं है ।

इसप्रकार जैसे सिद्ध हैं, वैसे ही सिद्ध का स्वरूप शिष्य को बताया और इसप्रकार उपदेश देते हैं ह्व “हे शिष्य ! हे पुत्र ! तुम तो सिद्ध-

समान हो, इसमें सन्देह मत करो । सिद्धों के स्वरूप और तुम्हारे स्वरूप में अन्तर नहीं है । जैसे सिद्ध हैं, वैसे ही तुम हो । वर्तमान समय में तुम अपने को स्वभाव से सिद्धसमान देखो । विचार करो ! सिद्धसमान हो कि नहीं ? उसे देखते ही कोई परम आनन्द उत्पन्न होगा, वह कहने मात्र का नहीं है; परमार्थतः ऐसा ही है।”

“इसलिए अब तुम सावधान होकर, अपनी परिणति सुलट कर तथा एकाग्रचित्त से साक्षात् ज्ञाता-दृष्टा पर को देखने-जाननेवाले ह्व उसको ही तुम देखो, अवलोकन करो; शिथिलता/ढील मत करो !”

ऐसे अमृतरूपी श्रीगुरु के वचन सुनकर शिष्य शीघ्र ही अपने स्वरूप का विचार करने लगा । परम दयालु श्रीगुरु ने बारम्बार मुझसे यही कहा और यही उपदेश दिया है, अतः इसका क्या प्रयोजन है ? एक मेरे भला करने का ही प्रयोजन है; इसलिए मुझसे बार-बार कहा है । अतः देखो, मैं सिद्धसमान हूँ कि नहीं ?

देखो ! जब यह जीव मरण समय इस शरीर से निकलकर दूसरी गति में जाता है; तब इस शरीर के अंगोपांग, हाथ-पैर, आँख-कान, नाक-इत्यादि सर्व चिह्न ज्यों के त्यों रहते हैं; किन्तु चेतनपना नहीं रहता । इससे यह जाना गया कि जाननेवाला-देखनेवाला व्यक्ति कोई और ही था ।

तथा देखो, मरण समय जब यह जीव अन्य गति में जानेवाला होता है, तब कुटुम्ब-परिवार के लोग मिलकर इसे बहुत पकड़-पकड़ कर रखना चाहें तथा गहरे तलघर में मोटे कपाट में भी जड़कर रखें, तो भी सर्व कुटुम्ब के देखते-देखते दीवार एवं घर में से आत्मा निकल जाता है और यह किसी को नहीं दिखता है इसलिए यह जाना गया कि आत्मा अमूर्तिक है । यदि मूर्तिक होता तो शरीर की भाँति पकड़ने से रुक जाता; इसलिए आत्मा प्रत्यक्ष अमूर्तिक है, इसमें सन्देह नहीं है ।

यह आत्मा श्रोत्र-इन्द्रिय के द्वार से सात प्रकार के शब्दों की परीक्षा करता है, सुनता है, नेत्र-इन्द्रिय के द्वार से पाँच प्रकार के वर्ण को भली-भाँति देखता है, नासिका-इन्द्रिय के द्वार से दो प्रकार की सुगन्ध-दुर्गन्ध को जानता है, रसना-इन्द्रिय के द्वार से पाँच प्रकार के रस का आस्वादन करता है एवं स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा आठ प्रकार के स्पर्श को जानता है, अनुभव करता है एवं निर्धार करता है।

ऐसा जाननपना ज्ञायकस्वभाव के बिना इन्द्रियों में तो नहीं है, इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। अनन्त पुद्गल के परमाणुओं के मिलने से इनका यह आकार बना है। अतः इन्हीं इन्द्रियों के द्वार से जो दर्शन-ज्ञान उपयोग में आता है, वह उपयोग ही मैं हूँ; अन्य नहीं, भ्रम से ही अन्य भासित होता है।

अब श्रीगुरु के प्रसाद से मेरा भ्रम विलीन हो गया है। मैं प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञाता-द्रष्टा, अमूर्तिक, सिद्धसमान स्वयं को देखता-जानता और अनुभव करता हूँ। इस अनुभवन में कोई निराकुल, शान्ति-प्रदायक, अमूर्तिक, आत्मिक, अनुपम रस उत्पन्न होता है और आनन्द झरता है।

इस आनन्द का प्रभाव मेरे असंख्यात आत्मिक-प्रदेशों में धाराप्रवाह-रूप से चलता है, प्रवाहित होता है। इसकी अद्भुत महिमा को मैं ही जानता हूँ अथवा सर्वज्ञदेव जानते हैं; यह वचन-अगोचर है।

मैं कभी गहरे तलघर में बैठकर देखता और विचारता हूँ तो भी मुझे वज्रमयी दीवार फोड़कर भी घट-पटादि पदार्थ दिखाई देते हैं हूँ ऐसे विचार आते हैं कि हूँ देखो ! यह मेरा मकान मुझे प्रत्यक्ष इससमय दिखाई देता है, यह नगर मुझे प्रत्यक्ष दिखता है।

मुझे यह भरतक्षेत्र दिखता है। सात पृथिवियों में रहते हुए नारकियों के जीव मुझे दिखते हैं। सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश,

सर्वार्थसिद्धि के देव, सिद्धक्षेत्र में स्थित अनन्तानन्त सिद्ध भगवान, समस्त त्रिलोक, इतने ही प्रमाणवाला अमूर्तिक धर्मद्रव्य, इतने ही प्रमाणवाला अमूर्तिक अधर्मद्रव्य एवं इतने ही प्रमाण में एक-एक प्रदेश में स्थित एक-एक अमूर्तिक कालाणुद्रव्य स्थित दिखते हैं।

त्रिलोक अनन्तानन्त निगोदिया जीवों से भरा है तथा और भी जाति के त्रस जीव त्रस नाड़ी में स्थित हैं। नरकों में नारकी जीव महादुःख पाते हैं। स्वर्गों में स्वर्गवासी देव क्रीड़ा करते हैं तथा इन्द्रियजनित सुख को भोगते हैं। एक समय में अनन्तानन्त जीव मरते और उत्पन्न होते दिखते हैं।

दो परमाणु के स्कन्ध से प्रारम्भ कर अनन्त परमाणु एवं त्रैलोक्य प्रमाण महास्कन्ध पर्यन्त नाना प्रकार के पुद्गलों की पर्यायें मुझे दिखती हैं। वे प्रतिसमय अनेक स्वभाव को लिए हुए परिणमती हुई दिखती हैं। दशों दिशाओं में अलोकाकाश सर्वव्यापी दिखता है।

तीन काल के समयों का प्रमाण दिखता है और सर्व पदार्थों की तीन कालसम्बन्धी पर्यायों का पलटना भी दिखाई देता है। केवलज्ञान का जानपना मुझे प्रत्यक्ष दिखता है।

इसप्रकार ज्ञान का धारक स्वामी कौन है ? ऐसा ज्ञान किसे हुआ ? हूँ ऐसा ज्ञायक पुरुष तो प्रत्यक्ष साक्षात् विद्यमान दिखता है। यहाँ भी जहाँ-तहाँ ज्ञान का प्रकाश ही मुझे दिखता है, शरीर को नहीं दिखता; ऐसे जानपने का स्वामी कोई और ही है अथवा मैं हूँ ? यदि और ही हो तो मुझे ऐसी खबर क्यों पड़ती है ? अन्य किसने देखा ? और कैसे जाना ? इसलिए यह जानपना मुझे ही उत्पन्न हुआ है अथवा जो जानपना है, वह ही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वह ही जानपना है; इसलिए जानपना और मुझमें द्वैत नहीं है।

मैं एक ज्ञान का ही बना हुआ स्वच्छ निर्मल पिण्ड हूँ। जैसे नमक की डली खार के पिण्ड से बनी है अथवा शक्कर की डली मिष्ट अमृत

के अखण्ड-पिण्ड से बनी है; वैसा ही मैं साक्षात् प्रकट शरीर से भिन्न हूँ। मैं स्वभाव से लोकालोक का प्रकाशक, चैतन्यधातु, सुखपिण्ड, अखण्ड, अमूर्तिक, अनन्तगुणों से पूरित हूँ; इसमें सन्देह नहीं है।

देखो मेरे ज्ञान की महिमा ! वर्तमान में मुझे कोई केवलज्ञान नहीं, कोई अवधि-मनःपर्ययज्ञान भी नहीं; मात्र मति-श्रुतज्ञान प्राप्त है। वे भी पूर्ण नहीं हैं, मात्र अनन्तर्वे भाग क्षयोपशम हुआ है। उसके होते हुए ज्ञान का इस भाँति प्रकाश हुआ और उसके अनुसार ही आनन्द हुआ तो इस ज्ञान की महिमा किसको कहूँ ?

यह आश्चर्यकारी स्वरूप मेरा ही है, किसी अन्य का नहीं है, अतः इस भाँति विचक्षण पुरुष को अर्थात् निजात्म स्वभाव को देखकर मैं और किससे प्रीति करूँ ? मैं और किसकी आराधना करूँ ? मैं किसका सेवन करूँ और किसके पास जाकर याचना करूँ ?

इस स्वरूप को जाने बिना मैंने अबतक जो किया, वह मोह का स्वभाव था; मेरा स्वभाव नहीं था।

मेरा स्वभाव तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक चैतन्यलक्षण सर्व तत्त्वों को जाननेवाला है, निजपरिणति में रमण करनेवाला है; शिवस्थान में वास करनेवाला है; संसारसमुद्र से तारनेवाला है; राग-द्वेष का हरण करनेवाला, स्वरस का पान करनेवाला है/ज्ञानरस का पान करने-वाला है।

निराबाध, निगम/आप्तवचन, निरंजन, निराकार, अभोक्ता और ज्ञानरस का भोक्ता, परस्वभाव का अकर्ता, निजस्वभाव का कर्ता, शाश्वत, अविनाशी, शरीर से भिन्न, अमूर्तिक, निर्मल, चैतन्य पिण्ड, पुरुषाकार देवाधिदेव मैं ही हूँ।

उसकी निरन्तर सेवा और अवलोकन करता हूँ। उसका अवलोकन करने से शान्त सुधामृत की छटा उछलती है तथा आनन्दधारा बहती

है। उसके रसपान से अमर होना चाहता हूँ। यह मेरा स्वरूप जयवन्त रहे। इसका अवलोकन और ध्यान जयवन्त रहे तथा इसका विचार जयवन्त वर्ते। इसका क्षणमात्र भी अन्तर न पड़े। इस स्वरूप की प्राप्ति के बिना मैं सुखी कैसे होऊँ ? कभी नहीं हो सकता।

मैं कैसा हूँ ? जिस भाँति काष्ठ की गनगौर को आकाश में स्थापित करें तो स्थापित प्रमाण आकाश के प्रदेश उसके प्रदेशों में प्रवेश कर जाते हैं और काष्ठ की बनी गनगौर/पुतली के प्रदेश आकाश में प्रवेश कर जाते हैं। इसप्रकार क्षेत्र-अपेक्षा एकमेक होकर मिले हुए ठहरे हैं और मिली-जुली अवस्थारूप प्रतिसमय परिणमन करते हैं; किन्तु स्वभाव की अपेक्षा भिन्न-भिन्न स्वभाव लिए स्थित रहते हैं एवं अलग-अलग ही परिणमन करते हैं।

वे किसप्रकार परिणमते हैं ? आकाश तो प्रतिसमय अपने निर्मल अमूर्तिक स्वभावरूप परिणमन करता है और काष्ठ की बनी गनगौर/पुतली प्रतिसमय अपने मूर्तिक एवं अचेतन स्वभावरूप परिणमन करती है। अब यदि काष्ठ की गनगौर को आकाश के प्रदेशों से उठाकर दूर स्थापित करें तो आकाश के प्रदेश तो वहीं के वहीं रहते हैं और काष्ठ के प्रदेश चले जाते हैं, आकाश के प्रदेश उसके साथ नहीं जाते हैं; चूँकि वे भिन्न-भिन्न स्वभावरूप थे, इसलिए अलग करने पर अलग हुए।

इसी भाँति मैं भी इस शरीर के क्षेत्र की अपेक्षा एक क्षेत्रावगाह होकर मिला हुआ ठहरा हुआ हूँ; किन्तु स्वभाव की अपेक्षा मेरा स्वरूप भिन्न है। यह शरीर तो प्रत्यक्ष जड़/अचेतन, मूर्तिक, गलन-पूर्ण स्वभाव को लिए हुए प्रतिसमय परिणमन करता है और वह मैं हूँ, जो शरीर के अलग होते ही प्रत्यक्ष न्यारा हो जाता हूँ।

मैं तो चैतन्य, अमूर्तिक, निर्मल, ज्ञायक, सुखमयी आनन्द स्वभाव को लिए हुए प्रतिसमय परिणमन करता हूँ। इस शरीर के और

मेरे भिन्नपना प्रत्यक्ष है। इसके द्रव्य-गुण-पर्याय अलग और मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय अलग, इसका प्रदेश अलग और मेरा प्रदेश अलग तथा इसका स्वभाव पृथक् और मेरा स्वभाव पृथक् है।

यहाँ कोई ऐसा कहे कि पुद्गलद्रव्यों से बारम्बार भिन्नपना हुआ, किन्तु शेष चार द्रव्यों से अथवा अन्य जीवद्रव्य से तो पृथक्पना नहीं हुआ ?

उसका उत्तर यह है कि चार द्रव्य ह्व धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो अनादिकाल से लेकर एक स्थान पर अचलरूप से स्थित हैं। अन्य जीवद्रव्य का संयोग प्रत्यक्ष ही मुझसे भिन्न है, इसलिए उनको क्या भिन्न करना ? एक पुद्गलद्रव्यों की ही उलझन है, इसलिए इसी से अलग करना उचित है। अधिक विकल्प करने का क्या प्रयोजन ?

जाननेवाला तो थोड़े ही में जान ले और नहीं जाननेवाला अधिक में भी न जाने। इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि यह बात युक्ति एवं ज्ञान कला से साध्य है; बल, तकरार/झगड़े से साध्य नहीं है।

इन्द्रियों और मन के द्वार से जानपना ह्व यह आत्मा शरीर में रहता हुआ इन्द्रियों तथा मन के द्वार से किसप्रकार जानता है ?

वही कहते हैं ह्व जिसप्रकार एक राजा को किसी एक बलवान ने बहुत श्वेत, बड़े, ऊँचे शिखरवाले महल के बन्दीखाने में रखा। उस बन्दीखाने में पाँच झरोखे हैं और बीच में एक सिंहासन स्थित है।

उन झरोखों में ऐसी शक्तियुक्त काँच लगा है और सिंहासन में ऐसी शक्ति लिए हुए रत्न लगा हुआ है कि राजा सिंहासन पर बैठा हुआ झरोखों में से अनुक्रम से देखता है।

प्रथम झरोखे में से देखे ह्व तब तो स्पर्श गुण के आठ पर्यायसहित पदार्थ दिखते हैं, अवशेष पदार्थ उसमें से नहीं दिखते। पुनः उसी सिंहासन पर बैठा हुआ राजा दूसरे झरोखे में से देखे ह्व तब पाँच जाति के रस की

शक्ति लिए पदार्थ दिखते हैं और अवशेष पदार्थ नहीं दिखते। पुनः सिंहासन पर बैठा हुआ राजा तीसरे झरोखे में से देखे ह्व तब गन्ध के दो जाति सहित पदार्थ दिखते हैं और अवशेष पदार्थ नहीं दिखते। पुनः सिंहासन के ऊपर बैठा हुआ राजा चौथे झरोखे में से देखे ह्व तब पाँच जाति के वर्णसहित पदार्थ दिखते हैं, अवशेष पदार्थ हैं तो भी नहीं दिखते। पुनः सिंहासन पर बैठा हुआ राजा पाँचवें झरोखे में से देखे ह्व तब सप्त जाति के शब्दमयी पदार्थ दिखते हैं और अवशेष पदार्थ नहीं दिखते।

जब वह राजा पाँचों झरोखों का अवलोकन छोड़कर ह्व उनमें से देखना बन्द कर, सिंहासन के ऊपर दृष्टि कर, पदार्थ का विचार करे; तब बीसों जाति के तो मूर्तिक-पदार्थ और आकाशादिक अमूर्तिक-पदार्थ सब दिखते हैं।

झरोखों तथा सिंहासन के बिना वहाँ के पदार्थों को जानना चाहे तो नहीं जान पाता। अब राजा को बन्दीखाने से छोड़कर महलद्वार से निकाले, तब बिना विचार के ही राजा को दशों दिशाओं के सर्व मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थ प्रतिभासित होते हैं।

यह देखने का स्वभाव राजा का है, सम्पूर्ण महल का नहीं है। मात्र पूरे महल के निमित्त से ज्ञान आच्छादित हो जाता है तथा कोई निर्मल जाति के परमाणु झरोखे और सिंहासन में लगे हैं, उनके निमित्त से किंचित् मात्र जानपना रहता है। दूसरी बात यह है कि महल का स्वभाव तो सर्व ज्ञान को घातने का है।

इसीप्रकार इस शरीररूपी महल में यह आत्मा कर्मों के निमित्त से बन्दीखाने में स्थित है। इसमें पाँच इन्द्रियरूपी तो झरोखे हैं और मनरूपी सिंहासन है। जब यह आत्मा जिस इन्द्रिय के द्वार से अवलोकन करता है, तब उस इन्द्रिय के अनुसार पदार्थ को देखता है। मन के द्वार से अवलोकन करता है, तब मूर्तिक एवं अमूर्तिक सर्व पदार्थ प्रतिभासित

होते हैं।

जब यह आत्मा शरीररूपी बन्दीखाने से रहित होता है, तब मूर्तिक और अमूर्तिक, लोकालोक के त्रिकाल सम्बन्धी चराचर पदार्थ एक समय में युगपत्प्रतिभासित होते हैं। यह स्वभाव आत्मा का है, शरीर का तो नहीं है।

शरीर के निमित्त से पूरा ज्ञान घटता जाता है अर्थात् अप्रकटरूप रहता है और इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से किंचित् मात्र ज्ञान खुला/प्रकट रहता है। इसप्रकार के निर्मल जाति के परमाणु इन्द्रियों एवं मन में लगे हैं, उनसे किंचित् मात्र दिखता है/जानना होता है। दूसरी बात यह है कि शरीर का स्वभाव तो इतने ज्ञान को भी घातने/ढकने का ही है।

जिसने निज आत्मा का स्वरूप जाना है, उसका यह चिह्न होता है। अन्य गुण तो आत्मा में अनेक हैं और अधिक ही जाने जाते हैं; किन्तु तीन गुण विशेष हैं, उनको जाने तो अपना स्वरूप अवश्य जानता है और उनके जाने बिना त्रिकाल में भी निजस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। तीन गुणों में से दो को ही भलीभाँति जाने तो भी निज सहजानन्द को पहचाने। दो गुणों की पहचान बिना स्वरूप की प्राप्ति त्रिकाल, त्रिलोक में नहीं होती। वही कहते हैं ह

**गुणों की पहचान और स्वरूप की प्राप्ति ह पहला गुण** ह प्रथम तो आत्मा का स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा जाने। यह जानपना है, वह ही मैं हूँ और मैं हूँ, वही जानपना है ह ऐसा निःसन्देह अनुभवन में आए।

**दूसरा गुण ह राग-द्वेषरूप व्याकुल होकर परिणमन करता** है, वह ही मैं हूँ, कर्म का निमित्त पाकर कषायरूप परिणमन हुआ है। जब कर्म का निमित्त अल्प पड़े, उदय मन्द हो; तब परिणाम शान्तरूप परिणमन करते हैं।

जैसे जल का स्वभाव तो शीतल एवं निर्मल है, अग्नि का निमित्त

पाकर वह जल उष्णतारूप परिणमन करता है और धूल/रज का निमित्त पाकर वह जल मलिनतारूप परिणमन करता है; वैसे ही इस आत्मा का ज्ञानावरणादि कर्म के उदय का निमित्त होने पर ज्ञान घाता जाता है और कषायों के उदय का निमित्त पाकर निराकुलता का गुण घाता जाता है।

जैसे-जैसे ज्ञानावरणादि कर्म का उदयरूप निमित्त हलका/मन्द पड़ता है, वैसे-वैसे ज्ञान का उद्योत होता है और जैसे-जैसे कषाय का निमित्त मन्द पड़ता जाता है, वैसे-वैसे निराकुलित परिणाम होते जाते हैं। इस स्वभाव को जिन्होंने प्रत्यक्ष जाना और अनुभव किया है, वे ही सम्यग्दृष्टि निजस्वरूप के भोक्ता हैं।

**तीसरा गुण ह** यह भी जानते हैं कि मैं असंख्यातप्रदेशी अमूर्तिक आकारवाला हूँ। जैसे आकाश अमूर्तिक है, वैसे ही मैं भी अमूर्तिक हूँ; किन्तु आकाश तो जड़ है और मैं चैतन्य हूँ।

**आकाश का स्वरूप ह** आकाश काटे से कटता नहीं, तोड़ने से टूटता नहीं, पकड़ने में आता नहीं, रोकने से रुकता नहीं, छेदने से छिदता नहीं, भेदने से भिदता नहीं, गलाने से गलता नहीं, जलाने से जलता नहीं ह इनको आदि लेकर किसीप्रकार भी आकाश का नाश नहीं होता है, इसीप्रकार मेरे असंख्यातप्रदेशों का नाश नहीं होता।

( 1 ) मैं असंख्यातप्रदेशी प्रत्यक्ष वस्तु हूँ। ( 2 ) मेरा ज्ञान गुण तथा ( 3 ) परिणति गुण प्रदेशों के सहारे हैं। यदि प्रदेश न हों तो गुण किसके आश्रित रहें ? जब प्रदेश बिना गुणों की नास्ति हो, तब स्वभाव की नास्ति हो। जैसे आकाश के फूल कोई वस्तु नहीं, वैसे ही हो जाएँगे ह ऐसा मैं नहीं हूँ।

मैं साक्षात् अमूर्तिक, अखण्ड प्रदेशों को धारण करनेवाला हूँ और उनमें विशेष ज्ञान गुण को धारण किए हुए हूँ। ऐसा तीन प्रकार से संयुक्त मेरा स्वरूप, उसे मैं भलीभाँति जानता हूँ और अनुभव करता हूँ। इन

तीन गुणों की जो मुझे प्रतीति है, वही कहता हूँ ह

तीन गुणों की प्रतीति हूँ कोई मेरे पास आकर ऐसा झूठ ही कहता है कि “तुम चैतन्यरूप नहीं हो और तुम में परिणमन गुण भी नहीं है ह यह बात अमुक ग्रन्थ में कही है” हूँ ऐसा मुझसे कहे, तब मैं उससे कहूँ हूँ “रे दुर्बुद्धि ! अरे बुद्धिरहित ! तुम मोह से ठगाये गए हो, तुम्हें कुछ भी सुध नहीं, तुम्हारी बुद्धि ठगी गई है।”

तो वह पुरुष कहता है हूँ “क्या करूँ ? अमुक ग्रन्थ में कहा है” हूँ ऐसा मुझसे कहे तो मैं जो पर का देखन-जाननहारा प्रत्यक्ष चैतन्यवस्तु हूँ; उसके कहे को कैसे मानूँ ?

तब उससे कहता हूँ हूँ “शास्त्र में ऐसा मिथ्या नहीं कहा जाता हूँ यह नियम है। जैसे सूर्य कभी शीतलतारूप नहीं हुआ और अभी भी नहीं है, आगे भी नहीं होगा।”

वह मुझे फिर से कहता है हूँ आज सूर्य शीतलरूप उदित हुआ, इसे मैं कैसे मानूँ ? कदाचित् नहीं मान सकता; परन्तु तुम असत्य ही सर्वज्ञ का नाम लेकर ऐसा कहते हो हूँ “तुम चेतन नहीं हो और तुम्हारी परिणति/परिणमन भी नहीं” हूँ अतः मैं यह बात कदापि नहीं मान सकता।

मैं क्या नहीं मानता ? दो गुणों के बात की तो मुझे जिन-आज्ञा से प्रतीति है और अनुभव से भी प्रतीति है तथा तीसरे प्रदेशत्व गुण का भी मुझे आज्ञा से और अनुभव से एकदेश प्रमाण है।

कैसे ? क्योंकि मैं यह जानता हूँ कि सर्वज्ञदेव का वचन झूठा नहीं होता, इसलिए तो आज्ञाप्रमाण है और मैं यह भी जानता हूँ कि मुझे मेरा अमूर्तिक आकार नहीं दिखता, अतः यह अनुभवप्रमाण है।

तब अनुभव में प्रमाण कैसे हो ? मैं अनुमान से जानता हूँ कि प्रदेशों के आश्रय बिना चैतन्य गुण किसके सहारे रहेगा ? और प्रदेशों के

बिना गुण कदापि नहीं होते हूँ यह नियम है। जैसे भूमि के बिना वृक्षादि गुण किसके सहारे होंगे; वैसे ही प्रदेश बिना गुण किसके सहारे हों ? ऐसे विचार से अनुभव भी आता है और आज्ञा से प्रमाण भी होता है।

यदि कोई मेरे पास आकर झूठा भी ऐसा कहे हूँ कि अमुक ग्रन्थ में यह बात कही है कि हूँ “तुमने पहले तीन लोक प्रमाण प्रदेशों का श्रद्धान किया था, अब अन्य ग्रन्थ में इस भाँति निकला है कि आत्मा के प्रदेश धर्मद्रव्य के प्रदेशों से कम हैं।”

तब मैं ऐसा विचारता हूँ हूँ सामान्य शास्त्र की अपेक्षा विशेष बलवान होता है, अतः इसीप्रकार होगा। मेरे अनुभव में तो कोई निर्णय (निर्धार) नहीं होता और विशेष ज्ञाता नहीं दिखते हैं; इसलिए मैं सर्वज्ञ के वचन जानकर प्रमाण करता हूँ।

अब यदि कोई मुझसे यह कहे हूँ तुम जड़, अचेतन, मूर्तिक, परिणति से रहित हो तो मैं यह बिलकुल नहीं मान सकता, यह मुझे निःसन्देह है हूँ ऐसा मुझे करोड़ों ब्रह्मा, करोड़ों विष्णु, करोड़ों नारायण, करोड़ों रुद्र आकर भी कहें तो भी मैं तो यह ही जानूँगा कि ये तो पागल हो गए हैं, मुझे ठगने के लिए आए हैं अथवा परीक्षा ले रहे हैं।

भावार्थ हूँ यह जो मेरी ज्ञान परिणति है, यह मैं स्वयं ही हूँ, यह स्वयं ही होती है। जो इसे जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है; इसके जाने बिना मिथ्यादृष्टि रहता है। अनेकप्रकार के गुणों के स्वरूप का एवं पर्यायों के स्वरूप का जैसे-जैसे ज्ञान होता है, वैसे-वैसे ज्ञान कार्यकारी होता है; परन्तु मुख्यरूप से इन दो का ज्ञान अवश्य होना चाहिए हूँ ऐसा लक्षण जानना।

इसके अतिरिक्त विशेष गुण इसप्रकार जानना कि एक गुण में अनन्तगुण हैं और अनन्तगुणों में एक गुण है; किन्तु गुणों में गुण मिलते नहीं और सर्व गुणों में मिले भी हैं।

जैसे स्वर्ण में भारी, पीला, चिकना इत्यादि अनेक गुण हैं, अतः क्षेत्र की अपेक्षा तो सर्व गुणों में पीत गुण पाया जाता है और पीले गुण में क्षेत्र की अपेक्षा सर्व गुण पाए जाते हैं और क्षेत्र की ही अपेक्षा गुण मिले हुए रहते हैं तथा सभी के प्रदेश एक ही हैं।

स्वभाव की अपेक्षा सबके स्वरूप अलग-अलग हैं। पीले का स्वभाव अन्य है तथा चिकने का स्वभाव अन्य ही है। इसीप्रकार आत्मा के विषय में जानना और अन्य द्रव्यों में भी जानना तथा अनेकप्रकार अर्थपर्याय एवं व्यंजनपर्याय का यथार्थ ज्ञान शास्त्र के अनुसार जानना उचित है।

**सुख-दुःख** ह इस जीव को सुख की वृद्धि तथा हानि दो प्रकार की होती है। वही कहते हैं ह जितना ज्ञान है, उतना ही सुख है। इसलिए ज्ञानावरणादि का उदय होने पर तो सुख-दुःख दोनों का नाश होता है।

जब ज्ञानावरणादि का तो क्षयोपशम होता है और मोहकर्म का उदय होता है, तब जीव के दुःख की शक्तिपर्याय उत्पन्न होती है। सुखशक्ति तो आत्मा का निज गुण है, जो कर्म के उदय बिना है; किन्तु दुःख की शक्ति अर्थात् पर्याय कर्म के निमित्त से होती है, वह औपाधिक शक्ति है, कर्म का उदय मिटने पर जाती रहती है। सुखशक्ति कर्म का उदय मिटने पर प्रकट होती है, इसलिए कि वस्तु का द्रव्यत्व स्वभाव है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है ह “ हे स्वामी ! हे प्रभु ! आपकी कृपा से द्रव्यकर्म एवं नोकर्म से मेरा स्वभाव भिन्न/न्यारा दिखा। अब मुझे राग-द्वेष से न्यारा दिखाओ। ”

तब श्रीगुरु कहते हैं ह “हे शिष्य, तुम सुनो ! जैसे जल का स्वभाव शीतल है और अग्नि के निमित्त से जल उष्ण होता है। वह उष्ण होने पर पर्याय में अपना शीतल गुण भी खो देता है, स्वयं उष्णरूप होकर परिणमता है तथा औरों को भी आताप उत्पन्न करता है किन्तु कुछ

समय पश्चात् जैसे-जैसे अग्नि का संयोग मिटता है, वैसे-वैसे जल का स्वभाव पर्याय में शीतल होता जाता है तथा औरों को भी आनन्दकारी होता है। ”

“वैसे ही इस आत्मा का स्वभाव सुख है और कषाय के निमित्त से आकुल-व्याकुल होकर पर्याय में परिणमन करता है। सर्व निराकुलित गुण जाता रहता है, तब अनिष्टरूप लगता है; किन्तु जैसे-जैसे कषाय का निमित्त मिटता जाता है, वैसे-वैसे निराकुलित गुण प्रकट होता जाता है, तब वह इष्ट लगता है। ”

“किंचित् कषाय के मिटने पर भी ऐसा शान्तिस्वरूप सुख प्रकट होता है, तो न जाने परमात्मदेव के जो सम्पूर्ण कषाय मिटने पर जिनके अनन्तचतुष्टय प्रकट हुआ है, उनका वह सुख कैसा होगा ? थोड़े से निराकुल स्वभाव को जानने से सम्पूर्ण निराकुलित स्वभाव की प्रतीति आती है तो सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा कितना निराकुलित स्वभाव का होगा ! ह ऐसा अनुभव मुझे भलीभाँति होता है। ”

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है ह “हे प्रभु ! बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का प्रकट चिह्न क्या है ? उसका स्वरूप कहो। ”

तब श्रीगुरु कहते हैं ह “जैसे किसी बालक को जन्म से ही तहखाने में रखा और वह वहीं बड़ा हुआ; फिर कितने ही दिनों के पश्चात् उसे रात्रि के समय बाहर निकाला और उससे प्रश्न किया कि सूर्य की दिशा, प्रकाश और बिम्ब कैसा होता है ? ”

तब वह बालक कहता है ह “मैं तो नहीं जानता हूँ कि सूर्य की दिशा, प्रकाश तथा बिम्ब कैसा होता है ? ” पुनः उससे प्रश्न करें ह तब वह कुछ का कुछ बताता है। पश्चात् पौ फटने पर, पुनः उससे प्रश्न करें, तब वह यह कहता है ह

“जहाँ से प्रकाश हुआ है, वही पूर्व दिशा है और वहीं सूर्य है;



क्योंकि सूर्य के बिना ऐसा प्रकाश नहीं होता। जैसे-जैसे सूर्य ऊँचा चढ़ता है, वैसे-वैसे सूर्य का प्रकाश प्रत्यक्ष और निर्मल होता जाता है तथा पदार्थ भी निर्मल प्रतिभासित होने लगते हैं।”

फिर कोई आकर उससे यह कहे कि सूर्य दक्षिण दिशा में है, तो वह कदापि नहीं मानता; ऐसा कहने वाले को पागल मानता है कि यह तो सूर्य का प्रकाश प्रत्यक्ष पूर्व दिशा में दिखता है, मैं इसका कथन कैसे मानूँ ?

यह मुझे निःसन्देह है, सूर्य का बिम्ब तो मुझे दृष्टिगत नहीं होता; किन्तु प्रकाश से सूर्य का अस्तित्व सिद्ध है; इसलिए नियम से सूर्य यहाँ ही है ह्व इस भाँति अवगाढ़ प्रतीति आती है।

किञ्चित् काल पश्चात् जब सूर्य का बिम्ब सम्पूर्ण महातेजयुक्त प्रताप को लेकर दैदीप्यमान प्रकट हुआ, तब प्रकाश भी सम्पूर्णरूप से प्रकट हुआ। पदार्थ भी जैसे थे, वैसे ही प्रतिभासित होने लगे; तब और कुछ पूछना नहीं रहा, निर्विकल्प हो गया।

इसप्रकार दृष्टान्त के अनुसार दार्ष्टान्त जानना। वही कहते हैं ह्व मिथ्यात्व-अवस्था में इस पुरुष से कहें कि तुम चैतन्य हो, ज्ञानमयी हो; तो वह कहता है ह्व “चैतन्य-ज्ञान क्या कहलाता है ? क्या मैं चैतन्य-ज्ञान हूँ ?”

फिर कोई आकर ऐसा कहता है ह्व “शरीर है, वही तुम हो; तुम सर्वज्ञ का एक अंश हो क्षण में उत्पन्न होते हो और क्षण में विनष्ट होते हो तथा तुम शून्य हो” ह्व तब वह ऐसा मानता है कि ह्व मैं ऐसा ही होऊँगा, मुझे कुछ खबर नहीं पड़ती ह्व यह बहिरात्मा का लक्षण है।

तब कोई पुरुष गुरु का उपदेश पाकर कहता है ह्व “प्रभु ! शून्य आत्मा के कर्म कैसे बँधते हैं ?” तब श्रीगुरु कहते हैं ह्व “जैसे एक सिंह उजाड़/निर्जन स्थान/वनखण्ड में बैठा था। वहाँ ही वन में सभा में आठ मन्त्रवादी थे। उस सिंह ने उन मन्त्रवादियों के ऊपर कोप किया, तो

उन मन्त्रवादियों ने एक-एक चुटकी भर धूल मन्त्रित कर सिंह के शरीर पर डाल दी।”

“कितने ही दिनों के पश्चात् एक चुटकी धूल के निमित्त से सिंह का ज्ञान कम हो गया। एक चुटकी धूल के निमित्त से देखने की शक्ति घट गई। एक चुटकी धूल के निमित्त से सिंह दुःखी हुआ। एक चुटकी धूल के निमित्त से सिंह उस शून्य स्थान को छोड़कर अन्य स्थान को चला गया। एक चुटकी धूल के निमित्त से सिंह का आकार अन्यरूप ही हो गया। एक चुटकी धूल के निमित्त से सिंह अपने को नीचरूप मानने लगा तथा एक चुटकी धूल के निमित्त से उसके ज्ञानादि की शक्ति-सामर्थ्य घट गई।”

इसीप्रकार आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म जीवों में राग-द्वेष उत्पन्न कर ज्ञानादि आठ गुणों का घात करते हैं ह्व ऐसा जानना। इसप्रकार शिष्य ने प्रश्न किया था, उसका गुरु ने उत्तर दिया।

अतः भव्यजीवों को सिद्ध के स्वरूप को जानकर अपने स्वरूप में लीन होना उचित है। सिद्ध के स्वरूप में और अपने स्वरूप में सादृश्य है, इसलिए सिद्ध के स्वरूप का ध्यान कर निजस्वरूप का ध्यान करना। अधिक कहने से क्या ? ऐसा ज्ञानी अपने स्वभाव को जानता है।

### सिद्धदेव की स्तुति

अब श्री सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति अर्थात् महिमा का वर्णन कर मैं अष्ट कर्मों का नाश करूँगा।

परम देव सिद्ध का स्वरूप ह्व जिन्होंने घातिया, अघातिया कर्ममल को धो दिया है। जैसे सोलहवान का शुद्ध कंचन (स्वर्ण) अन्तिम बार की आँच पर पकाया हुआ निष्पन्न होता है, वैसी ही अपनी स्वच्छ शक्ति से जिनका स्वरूप दैदीप्यमान प्रकट हुआ है; इसलिए मानो प्रकट होते ही समस्त ज्ञेयों को निगल लिया है!

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? एक-एक सिद्ध की अवगाहना में अनन्त-अनन्त सिद्ध अलग-अलग अपनी सत्ता सहित स्थित हैं, कोई सिद्ध भगवान किसी अन्य सिद्ध भगवान से नहीं मिलते। वे परम पवित्र हैं, स्वयं शुद्ध हैं एवं आत्मिक स्वभाव में लीन हैं तथा परम अतीन्द्रिय अनुपम, बाधा रहित निराकुलित स्वरस को निरन्तर पीते हैं; उसमें अन्तर नहीं पड़ता है।

अपने ज्ञायक स्वभाव को जिन्होंने प्रकट किया है तथा जो समय-समय षट् प्रकार की हानि-वृद्धिरूप से अनन्त अगुरुलघु गुणरूप परिणामते हैं। अनन्तानन्त आत्मिक सुख को आचरते हैं एवं आस्वादन करते हुए अघाते नहीं हैं अर्थात् अत्यन्त तृप्त होते हैं। जिन्हें अब कुछ भी इच्छा नहीं रही, कृतकृत्य हुए अर्थात् जो कार्य करना था वह कर चुके हैं।

**कैसे हैं परमात्मा देव ?** ज्ञानामृत से जिनका स्वभाव झरता/द्रवित होता है और स्वसंवेदन से जिसमें आनन्दरस की धारा उछलती है, उछल कर अपने ही स्वभाव में लीन होती है। जैसे शक्कर की डली जल में गल जाती है, वैसे ही स्वभाव में उपयोग गल गया है; पुनः बाहर निकलने में असमर्थ है। जिनकी निज परिणति स्वभाव में रमण करती है, एक समय के लिए उपजती एवं विनशती है तथा ध्रुव रहती है। पर परिणति से भिन्न अपने ज्ञान-स्वभाव में प्रवेश किया है तथा ज्ञान परिणति में प्रवेश किया है। इसप्रकार एकमेक होकर अभिन्न परिणमन होता है। ज्ञान और परिणति में दो को स्थान नहीं रहता ह्व ऐसा अद्भुत कौतुहल सिद्ध होता है।

वे सिद्ध भगवान अत्यन्त गम्भीर, उदार एवं उत्कृष्ट हैं। निराकुलित, अनुपम, बाधा रहित स्वरूप से पूर्ण भरे हैं। ज्ञानानन्द द्वारा आह्लादित हैं तथा सुख स्वभाव में मग्न हैं। अखण्ड, अचल, अविनाशी, निर्मल तथा चेतनास्वरूप शुद्ध ज्ञान की मूर्ति हैं। ज्ञायक हैं, वीतराग हैं तथा

सर्वज्ञ हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय संयुक्त त्रिकाल सम्बन्धी सर्व चराचर पदार्थों को एक समय में युगपत जानते हैं। सहजानन्द हैं, सर्व कल्याण के पुंज हैं एवं त्रैलोक्य में पूज्य हैं। जिनके सेवन से सर्व विघ्न विलीन हो जाते हैं।  $lrV\text{W}\text{H}\text{S}\text{a}\text{V}\text{o}\text{h}\text{c}$  (VH\text{E}\text{m}\text{U}\text{H}\text{S}\text{H}\text{S}\text{g}\text{`}) \{O\text{H}\text{S}\text{m}\text{O}\text{Z}\text{r}\text{H}\text{S}\text{m}\text{a}\text{H}\text{S}\text{a}\text{V}\text{o}\text{h}\text{c} ह्व ऐसे सिद्ध भगवान को मैं भी बारम्बार हस्त युगल मस्तक को लगाकर नमस्कार करता हूँ।

**नमस्कार का प्रयोजन ह्व** मैं उन्हें उन्हीं के गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ। वे देवाधिदेव हैं। यह देव संज्ञा सिद्ध भगवान में ही शोभायमान होती है तथा चार परमेष्ठियों की तो गुरु संज्ञा है।

सिद्ध भगवान सर्वतत्त्व को प्रकाशित करते हुए भी ज्ञेयरूप नहीं परिणामते हैं, अपने स्वभावरूप ही रहते हैं। वे ज्ञेयों को इसप्रकार जानते हैं, मानो ये समस्त ज्ञेय पदार्थ शुद्ध ज्ञान में डूब गए हैं या मानो प्रतिबिम्बित हुए हैं अथवा मानो ज्ञान में उत्कीर्ण कर दिए हैं।

उनके असंख्यात प्रदेश शान्तरस से भरे हैं तथा ज्ञानरस से आह्लादित हैं। शुद्धामृत वही हुआ परमरस, उसे ज्ञानांजलि से पीते हैं। जैसे चन्द्रमा के विमान से अमृत झरता है, वह दूसरों को आह्लाद/आनन्द उपजाता है और आतप को दूर करता है; वैसे ही सिद्ध भगवान आप स्वयं तो ज्ञानामृत पीते हैं, आचरते हैं तथा दूसरों को आह्लाद/आनन्द उपजाते हैं। उनका नाम, स्तुति एवं ध्यान करने से भव्यजीवों का आतप विलीन हो जाता है, परिणाम शान्त होते हैं तथा आपा-पर की शुद्धता होती है। जो ज्ञानामृत को पीते हैं, उन्हें निज स्वरूप की प्रतीति आती है।

ऐसे सिद्ध भगवान को नमस्कार हो, ऐसे सिद्ध भगवान जयवन्त प्रवर्तो। मुझे संसार-समुद्र से निकालो तथा संसार-समुद्र में गिरने से बचाओ। मेरे अष्ट कर्म का नाश करो। मेरे कल्याण के कर्ता होकर मुझे मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करा दो। मेरे हृदय में निरन्तर निवास करो और

मुझे अपने समान करो ।

**सिद्ध भगवान कैसे हैं ?** जिनके जन्म-मरण नहीं, जिनके शरीर नहीं है, जिनके विनाश नहीं है, संसार में गमन नहीं है; जिनके असंख्यात प्रदेशों में ज्ञान का आधार है । जो अनन्त गुणों की खान हैं एवं अनन्त गुणों से पूर्ण भरे हैं, इसलिए अवगुण आने को स्थान ही नहीं है ह इसप्रकार सिद्ध परमेष्ठी की महिमा का वर्णन कर स्तुति की ।

ह इसप्रकार सिद्ध का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।



### सिद्धों का स्वरूप

अब, सिद्धों का स्वरूप ध्याते हैं ह जो गृहस्थ-अवस्था को त्यागकर, मुनिधर्मसाधन द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होने पर अनंतचतुष्टयरूप भाव प्रगट करके, कुछ काल पीछे चार अघातिकर्मों के भी भस्म होने पर परम औदारिक शरीर को भी छोड़कर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हुए; वहाँ जिनको समस्त परद्रव्यों का सम्बन्ध छूटने से मुक्त अवस्था की सिद्धि हुई तथा जिनके चरम शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकारवत् आत्मप्रदेशों का आकार अवस्थित हुआ तथा जिनके प्रतिपक्षी कर्मों का नाश हुआ इसलिए समस्त सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनादिक आत्मिक गुण सम्पूर्णतया अपने स्वभाव को प्राप्त हुए हैं तथा जिनके नोकर्म का सम्बन्ध दूर हुआ इसलिए समस्त अमूर्त्त्वादिक आत्मिक धर्म प्रगट हुए हैं, तथा जिनके भावकर्म का अभाव हुआ इसलिए निराकुल आनन्दमय शुद्धस्वभावरूप परिणमन हो रहा है तथा जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य का और औपाधिकभाव-स्वभावभावों का विज्ञान होता है, जिसके द्वारा उन सिद्धों के समान स्वयं होने का साधन होता है । इसलिए साधने योग्य जो अपना शुद्धस्वरूप उसे दर्शाने को प्रतिबिम्ब समान हैं तथा जो कृतकृत्य हुए हैं इसलिए ऐसे ही अनंतकाल पर्यन्त रहते हैं । ऐसे निष्पन्न हुए सिद्धभगवान को हमारा नमस्कार हो ।

मोक्षमार्गप्रकाशक : पहला अधिकार, पृष्ठ - २

## साधु का स्वरूप

अब साधु का स्वरूप कहते हैं अतः हे भव्य ! तुम सावधान होकर भलीभाँति सुनो !

**निर्ग्रन्थ गुरु कैसे हैं ?** जिनका चित्त दयालु है, जिनका स्वभाव वीतरागी है और जो प्रभुत्व शक्ति से विभूषित हैं; हेय, ज्ञेय, उपादेय ह ऐसे विचार से संयुक्त हैं तथा निर्विकार महिमा को प्राप्त हुए हैं ।

जैसे नग्न राजपुत्र बालक, निर्विकार शोभा को प्राप्त होता है तथा सभी मनुष्यों और स्त्रियों को प्रिय लगता है । मनुष्य और स्त्रियाँ उसका रूप देखना चाहती हैं । स्त्रियाँ उसका आलिंगन करती हैं; परन्तु उनका परिणाम निर्विकार ही रहता है, सरागता आदि को प्राप्त नहीं होता है ।

वैसे ही जिनलिंग के धारक महामुनि बालकवत् निर्विकार शोभित होते हैं, सभी को प्रिय लगते हैं; सभी स्त्रियाँ और पुरुष मुनि का रूप देख-देखकर भी तृप्त नहीं होते हैं अथवा ऐसा लगता है कि वे मुनि निर्ग्रन्थ ही नहीं हुए हैं, वरन् अपने निर्विकारादि गुणों को ही प्रकट करते हैं ।

### शुद्धोपयोगी मुनि का स्वरूप ह

वे मुनि ध्यानारूढ़ हैं, आत्मस्वभाव में स्थित हैं । ध्यान बिना क्षणमात्र भी नहीं गँवाते हैं । नासाग्र दृष्टि कर अपने स्वरूप को ही देखते हैं ।

जिसप्रकार गाय बछड़े को देख-देखकर भी तृप्त नहीं होती, निरन्तर गाय के हृदय में बछड़ा बसता है; उसीप्रकार शुद्धोपयोगी मुनि अपने स्वरूप को क्षणमात्र भी बिसरते/भूलते नहीं हैं ।

गौ-वत्स के समान निज स्वभाव से वात्सल्य करते हैं अथवा अनादिकाल से अपना स्वरूप खो गया है, उसे ढूँढते हैं अथवा ध्यानाग्नि में कर्म ईन्धन को अभ्यन्तर होकर गुप्तरूप से होम करते हैं

अथवा नगरादि को छोड़कर, वन में जाकर, नासाग्रदृष्टि धारणकर एवं ज्ञानसरोवर में प्रवेश कर सुधा-अमृत को पीते हैं अथवा ज्ञान-अमृत में क्रीड़ा करते हैं एवं ज्ञानसमुद्र में ही डूबे रहते हैं अथवा संसार के भय से थके हुए, डरकर अभ्यन्तर में अमूर्तिक पुरुषाकार ज्ञानमयीमूर्ति ह्व ऐसा चैतन्यदेव, उसकी सेवा करते हैं तथा सभी को अशरण जानकर चैतन्यदेव की शरण को प्राप्त हुए हैं।

शुद्धोपयोगी मुनि के विचार एवं उनकी भावपूजा ह्व वे इसप्रकार विचार करते हैं ह्व भाई ! मुझे तो एक चैतन्य-धातुमय पुरुष ज्ञायक की महिमा का धारक ह्व ऐसा परमदेव; वही शरण है, अन्य शरण नहीं; इसप्रकार मेरा निःसन्देह श्रद्धान है।

इसके बाद वे सुधामृत से कर्मकलंक धोने के लिए चैतन्यदेव का (1) स्नपन अर्थात् प्रक्षालन करते हैं और मग्न होकर उनके सन्मुख ज्ञानधारा का क्षेपण करते हैं। (2) निजस्वभाव के चन्दन से उसकी अर्चना करते हैं अर्थात् पूजते हैं। (3) अनन्तगुणों के अक्षत उसके सम्मुख क्षेपण करते हैं। (4) सुमन अर्थात् भले मन का आठ पंखुड़ीसंयुक्त कमल-पुष्प उसके सन्मुख चढ़ाते हैं। (5) ध्यानरूपी नैवेद्य को स्वरूप के सन्मुख करते हैं। (6) ज्ञानरूपी दीप को उसमें प्रकाशित करते हैं, मानो ज्ञानदीप से चैतन्यदेव का स्वरूप ही अवलोकन करते हों। (7) ध्यानाग्नि में कर्मरूपी धूप को उदार मन से अत्यधिक शीघ्रता-पूर्वक भलीभाँति क्षेपण करते हैं और इसके पश्चात् उससे (8) निजानन्द के फल को भलीभाँति प्राप्त करते हैं ह्व इसप्रकार इन अष्टद्रव्यों से भावपूजन करते हैं।

वे मुनिराज सदा शुद्धस्वरूप में लगे हैं। मार्ग के भोले जानवर/पशु उनको काष्ठ का टूँठ जानकर, उनके शरीर से खाज खुजाते हैं, तो भी उनका उपयोग ध्यान से नहीं चलता है। इसप्रकार निजस्वभाव में रत/

लीन हुए हैं। हाथी, सिंह, सूकर, व्याघ्र, मृग इत्यादि वैरभाव छोड़कर, सन्मुख खड़े होकर नमस्कार करते हैं। अपने हित के लिए उनके उपदेश को चाहते हैं।

ज्ञानामृत का आचरण कर नेत्रों से अश्रुपात होता है; वह अंजुलि में गिरता है। गिरते-गिरते अंजुलि भर जाती है; जिसे चिड़िया, कबूतर आदि भोले पक्षी जल समझकर रुचि से पीते हैं। वह अश्रुपात ऐसा होता है, मानो आत्मिकरस ही झरता हो! वह आत्मिकरस हृदय में समाया नहीं है, इसलिए बाहर निकला है अथवा मानो कर्मरूपी वैरी का ज्ञानरूपी खड्ग से संहार किया है; उससे रुधिर उछल कर बाहर निकला है।

वे मुनिराज अपने ज्ञानरस में छक रहे हैं, इसलिए बाहर निकलने में असमर्थ हैं। कदाचित् पूर्व की वासना से बाहर निकलते हैं तो उन्हें यह जगत इन्द्रजालवत् भासित होता है। किन्तु तत्क्षण ही स्वरूप में लग जाते हैं। स्वरूप में लगने से आनन्द उपजता है; जिससे शरीर की ऐसी दशा होती है कि रोमांच होता है और हृदय गद्गद् होता है। कभी तो जगत के जीवों को उनकी उदासीन मुद्रा प्रतिभासित होती है और कभी मानो मुनि ने निधि प्राप्त की हो! ह्व ऐसी हँसमुख मुद्रा प्रतिभासित होती है। मुनिराज की ये दोनों दशाएँ अत्यन्त शोभित होती हैं। मुनि तो ध्यान में लीन हुए सौम्यदृष्टि धारण करते हैं और वहाँ नगर से राजा आदि वन्दना करने आते हैं।

इस काल में मुनिराज कहाँ विराजते हैं ? वे मुनिराज या तो श्मशानभूमि में अथवा निर्जन पुराने वन में अथवा पर्वत आदि की कन्दरा/गुफा में अथवा पर्वत के शिखर पर अथवा नदी के किनारे अथवा किसी उजाड़ भयानक अटवी में अथवा किसी एकान्त वृक्ष के नीचे अथवा वसतिका में अथवा नगर के बाहर चैत्यालय इत्यादि में

मन लगाने के लिए अथवा उदासीनता के कारण हूँ ऐसे रमणीक स्थान में विराजते हैं।

जैसे कोई अपनी निधि को छिपाता फिरता है और एकान्त स्थान में उसका अनुभव करता है; वैसे ही महामुनि अपनी ज्ञान-ध्यानरूपी निधि को छिपाते फिरते हैं और एकान्त में ही उसका अनुभव करते हैं।

वे ऐसा विचार करते हैं कि मेरी ज्ञान-ध्यान निधि न चली जाये और मेरे ज्ञानभोग में अन्तर न पड़े, इसलिए वे कठिन-कठिन स्थानों में वास करते हैं; जहाँ मनुष्य का संचार नहीं, वहाँ वास करते हैं।

मुनिराज को पर्वत, गुफा, नदी, श्मशान और वन ऐसे लगते हैं, मानो वे ध्यान करने को ही पुकारते हैं! हूँ “आओ, आओ! यहाँ ध्यान करो, ध्यान करो!! निजानन्द स्वरूप में विलास करो, रमण करो! तुम्हारा उपयोग स्वरूप में बहुत लगेगा, इसलिए अन्य कुछ न विचारो!”

शुद्धोपयोगी मुनिराज जहाँ तेज पवन चले वहाँ, जहाँ तेज धूप हो वहाँ तथा जहाँ बहुत अधिक मनुष्यों का संचार हो वहाँ हठपूर्वक नहीं बसते हैं; क्योंकि मुनिराज का अभिप्राय एक ध्यान-अध्ययन करने का ही है, जहाँ ध्यान-अध्ययन की वृद्धि हो, वहाँ ही वास करते हैं।

कोई ऐसा जाने कि मुनिराज सर्वप्रकार ऐसे कठिन-कठिन स्थान में ही रहें, स्वयं निरन्तर चाह-चाह कर परीषह को ही सहें, इतना दुर्धर तपश्चरण करें और निरन्तर ध्यानमग्न ही रहें हूँ ऐसा तो नहीं है।

कारण कि मुनिराज को बाह्य-क्रिया से तो प्रयोजन है नहीं और जो अट्टाईस मूलगुण ग्रहण किए हैं, उनमें अतिचार नहीं लगाते। इसके बावजूद क्रिया का सहज पालन करते हैं। उपयोग लगाने के अनुसार परीषह सहन करते हैं। यदि भोजन करने से शरीर को प्रबल हुआ जानें तो ऐसा विचारें कि यदि यह शरीर प्रबल होगा तो प्रमाद को उपजाएगा। इसलिए एक-दो दिन भोजन का त्याग करना ही उचित है।

भोजन का त्याग कर शरीर को क्षीण होता जाने तो ऐसा विचार करें कि हूँ यदि यह शरीर क्षीण होगा तो परिणाम को शिथिल करेगा और परिणाम शिथिल होगा तो ध्यान-अध्ययन नहीं सधेगा। इस शरीर से मुझे कोई वैर/द्वेष नहीं, यदि हो तो इसको क्षीण ही करे। मुझे इस शरीर से राग भी नहीं, जो इसका पोषण ही करें। इसलिए मुनिराज को शरीर से राग-द्वेष का अभाव है, जिस कार्य से उनका ध्यान-अध्ययन सधे, वही कार्य करते हैं।

इसप्रकार मुनिराज पवन, गर्मी, कोलाहल, शब्द एवं मनुष्य आदि के गमन के स्थानों में उपाय कर/जान-बूझकर नहीं बैठते हैं। वहाँ बैठते हैं, जहाँ ध्यान-अध्ययन से परिणाम च्युत न हों। मुनिराज का एक कार्य ध्यान-अध्ययन ही है। इसमें अन्तराय पड़ने के जो कारण हों, उन कारणों को दूर से ही छोड़ते हैं।

आप ध्यान में विराजते हैं, पश्चात् कोई ध्यान के विरुद्ध कारण प्राप्त हो तो ध्यान को छोड़, उठकर नहीं जाते। शीत ऋतु में नदी के तीर पर ध्यान धारण करते हैं, ग्रीष्म ऋतु में तप्त शिला के ऊपर एवं पर्वत के शिखर पर ध्यान धारण करते हैं। चातुर्मास में वृक्षों के तले ध्यान करते हैं। वे अपने परिणामों की विशुद्धता के अनुसार ध्यान धारण करते हैं। परिणाम अत्यन्त विरक्त हों तो ऐसी जगह जाकर ध्यान धारण करें; अन्यथा अन्य स्थान पर जहाँ मन स्थिर रहे, वहाँ ध्यान धारण करें।

मुनिराज सामने आए उपसर्ग को छोड़कर नहीं जाते; क्योंकि उनकी तो सिंहवत् वृत्ति है। जबतक मुनिराज के परिणाम ध्यान में स्थिर रहते हैं, तबतक तो ध्यान को छोड़कर अन्य कार्य नहीं विचारते हैं। ध्यान से परिणाम नीचे आए हों, तब शास्त्राभ्यास करते हैं एवं दूसरों को कराते हैं तथा अपूर्व जिनवाणी के अनुसार ग्रन्थ का अवलोकन करते हैं।

यदि शास्त्राभ्यास करते-करते परिणाम स्थिर होने लग जाँ तो

शास्त्राभ्यास को छोड़कर ध्यान में लग जाते हैं। अतः शास्त्राभ्यास से ध्यान का फल बहुत है; इसलिए हलका कार्य छोड़कर ऊँचे कार्य में लगना उचित ही है।

ध्यान में उपयोग की स्थिरता अल्पकाल रहती है और शास्त्राभ्यास में उपयोग की स्थिरता बहुतकाल रहती है; इसलिए मुनि महाराज ध्यान धारण करते हैं, शास्त्र वाँचते हैं और उपदेश भी देते हैं। आप स्वयं गुरु से पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं और चर्चा भी करते हैं। मूलग्रन्थों के अनुसार अपूर्व ग्रन्थों को जोड़ते हैं।

**मुनिराज का आहार-विहार** ह्व मुनिराज नगर से नगरान्तर, देश से देशान्तर विहार करते हैं। भोजन के लिए नगरादि में जाते हैं। वहाँ पड़गाहे जाने पर ऊँचे क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण कुल में नवधा-भक्तिसहित छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर खड़े-खड़े, दिन में एक बार करपात्र में आहार लेते हैं ह्व इत्यादि शुभकार्यों में प्रवर्तन करते हैं।

मुनिराज उत्सर्गमार्ग को छोड़कर परिणामों की निर्मलता के अर्थ अपवादमार्ग का आदर करते हैं और अपवादमार्ग छोड़कर उत्सर्गमार्ग का आदर करते हैं। उत्सर्गमार्ग तो कठिन है और अपवादमार्ग सुगम है। मुनिराज के ऐसा हठ नहीं है कि मुझे कठिन ही आचरण आचरना है या सुगम ही आचरण आचरना है।

मुनिराज के तो परिणामों की तौल है, बाह्य-क्रिया का प्रयोजन नहीं है। जिस प्रवृत्ति से परिणामों की विशुद्धता में वृद्धि हो और ज्ञान का क्षयोपशम बड़े, वही आचरण आचरते हैं। ज्ञान-वैराग्य आत्मा का निज लक्षण है, उसे ही वे चाहते हैं।

**मुनिराज की ध्यानावस्था और राजादि द्वारा उनकी वन्दना ह्व**

अब मुनिराज कहाँ, किसप्रकार ध्यान में स्थित रहते हैं, कैसे विहार करते हैं और कैसे राजादिक आकर वन्दना करते हैं; वही कहते हैं।

मुनिराज तो वन में, श्मशान में, पर्वत की गुफा में, पर्वत के शिखर पर एवं शिला पर ध्यान धरते हैं। नगरादि से राजा, विद्याधर और देव वन्दन करने आते हैं। वे मुनिराज की ध्यानावस्था देखकर दूर से ही नमस्कार कर वहीं खड़े रहते हैं।

किसी पुरुष को यह अभिलाषा होती है कि कब मुनिराज का ध्यान खुले, कब मैं उनके निकट जाकर प्रश्न करूँ तथा गुरु का उपदेश सुनकर प्रश्न का उत्तर जानूँ, अतीत-अनागत की पर्याय को जानूँ ह्व इत्यादि अनेकप्रकार के स्वरूप को गुरु के मुख से जानना चाहते हैं।

कितने ही पुरुष खड़े-खड़े विचार करते हैं और कितने ही पुरुष नमस्कार कर उठ जाते हैं। कितने ही ऐसा विचारते हैं कि मैं मुनिराज का उपदेश सुने बिना घर जाकर क्या करूँगा ?

मैं तो मुनिराज के उपदेश सुने बिना अतृप्त हूँ, मुझे नानाप्रकार के सन्देह हैं और नानाप्रकार के प्रश्न हैं। उनका निवारण दयालु गुरु बिना और कौन करेगा ? इसलिए हे भाई ! मैं तो जबतक मुनिराज का ध्यान खुले, तबतक खड़ा ही रहूँगा।

**ये मुनिराज परम दयालु हैं; किन्तु अपना हित छोड़कर हमको उपदेश कैसे दें ? इसलिए मुनिराज को अपने आगमन की जानकारी मत दो। अपने आगमन से कदाचित वे ध्यान से चलित हों तो हमें अपराध/दोष लगेगा, इसलिए चुपचाप ही रहो।**

कुछ लोग परस्पर ऐसा कहते हैं ह्व “देखो भाई ! मुनिराज की कैसी दशा है? काष्ठ, पाषाण की मूर्तिवत् अचल है। नासाग्र दृष्टि धारण की है। संसार से अत्यन्त उदासीन हैं। अपने स्वरूप में अत्यन्त लीन हैं। जहाँ आत्मिकसुख के लिए राजलक्ष्मी को तुच्छ जीर्ण तृण की भाँति छोड़ा है तो इनके आगे अपनी क्या गिनती है ?”

**कोई कहता है ह्व “अरे भाई ! अपनी गिनती नहीं ह्व यह बात तो**

सत्य; परन्तु ये मुनिराज परम दयालु हैं, महा-उपकारी हैं, तारण-तरण समर्थ हैं; इसलिए ध्यान खुलने पर तो हमारा भी कार्य सिद्ध करेंगे।”

कोई कहता है ह्व “देखो भाई ! मुनिराज की कान्ति, मुनिराज का अतिशय और मुनिराज का साहस । मुनिराज ने कान्ति से दशों दिशाओं में उद्योत किया है । उनके अतिशय के प्रभाव से मार्ग के सिंह, हाथी, व्याघ्र, रीछ, चीता, मृग इत्यादि जानवर वैरभाव छोड़कर, मुनिराज को नमस्कार कर निकट बैठ जाते हैं।”

“मुनिराज का साहस ऐसा है कि इतने क्रूर जानवरों की निकटता के भय से रहित/उनका भय छोड़कर निर्भय होकर इस उद्यान में विराजते हैं और ध्यान से क्षणमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं । क्रूर पशुओं को पूरी तरह मोह लिया है ।

यह बात न्याययुक्त ही है कि जैसा निमित्त मिलता है, वैसा ही कार्य बनता है; अतः मुनिराज की शान्तमुद्रा देखकर क्रूर जानवर भी शान्ति को प्राप्त होते हैं।”

कोई कहता है ह्व “अरे भाई ! इन मुनिराज का साहस अद्भुत है, कौन जाने, (न मालूम) ध्यान खुले या न भी खुले; इसलिए यहीं से नमस्कार कर घर चलें; फिर आएँगे।”

तब उससे कोई कहता है ह्व “अरे भाई ! अभी क्यों उतावले होते हो ? श्रीगुरु की अमृतरूप वाणी का पान किये बिना ही घर में जाने से क्या सिद्धि है ? तुमको घर जाना अच्छा लगता है, मुझे तो नहीं लगता । मुझे तो मुनिराज का दर्शन सबसे प्रिय लगता है । मुनिराज का ध्यान अब खुलेगा, बहुत देर हो गई; इसलिए किसीप्रकार का विकल्प मत करो।”

कोई कहता है ह्व “अरे भाई ! तुमने यह ठीक ही कहा, इसको अत्यन्त अनुराग है; यह श्रावक धन्य है।”

इसप्रकार परस्पर वार्तालाप और मन में विचार कर रहे थे, तभी मुनिराज का ध्यान खुला । बाह्य उपयोग होने से वे शिष्यजन आदि को देखने लगे, तब शिष्यजन कहने लगे ह्व

“अरे भाई ! मुनिराज परम दयालु अपने ऊपर दया कर सन्मुख अवलोकन कर रहे हैं, मानो अपने को बुलाते ही हैं; इसलिए अब सावधान हो जाओ और शीघ्र ही चलो, चलकर अपना कार्य सिद्ध करो।” तब वे शिष्य मुनिराज के निकट गए और श्रीगुरु की तीन प्रदक्षिणा दीं, युगल-हस्त मस्तक को लगाकर नमस्कार किया और मुनिराज के चरणकमल में मस्तक रख दिया ।

चरण की रज मस्तक पर लगाई और स्वयं को धन्य मानते हुए, न अधिक दूर और न अधिक निकट ह्व ऐसे विनयसंयुक्त खड़े रहकर, हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ।

कोई स्तुति करता है ह्व “हे प्रभु ! हे दयालु ! हे करुणानिधि ! हे परम उपकारी ! संसार-समुद्र तारक, भोगों से परान्मुख, संसार से उदासीन, शरीर से निस्पृह और स्व-पर कार्य में लीन ह्व ऐसे ज्ञानामृत में मग्न आप जयवन्त वर्तो, मेरे ऊपर प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ !”

“हे भगवन् ! आपके बिना मेरा कोई रक्षक नहीं, अतः आप ही अब मुझे संसार से पार करो । संसार में पड़े हुए जीवों के आप ही आधार हो और आप ही शरण हो, इसलिए जिस बात में मेरा कल्याण हो; आप वही कहो, मुझे आपकी आज्ञा प्रमाण है।”

“मैं बुद्धिहीन और विवेकरहित हूँ, इसलिए विनय-अविनय नहीं समझता हूँ, मैं तो एक अपना हित चाहता हूँ।”

जैसे बालक माता को लाड़कर चाहे जैसा बोलता है और लड्डू आदि वस्तु माँगता है, तो माता-पिता बालक जान उससे प्रीति ही करते हैं और खाने के लिए मिठाई आदि अच्छी वस्तु निकालकर देते ही हैं।

वैसे ही “प्रभु ! मैं बालक हूँ, आप माता-पिता हैं; अतः आप मुझे बालक जानकर क्षमा करो। मेरे प्रश्न का उत्तर देकर सन्देह का निवारण करो; जिससे मेरा अज्ञान-अन्धकार विलीन हो जाये/नष्ट हो जाये और तत्त्व का स्वरूप प्रतिभासित हो, आपा-पर की पहचान हो वह ऐसा उपदेश मुझे दो।” वह इसप्रकार शिष्य खड़ा-खड़ा वचनालाप कर चुप हो गया।

पश्चात् मुनि महाराज शिष्यजनों के अभिप्राय के अनुसार मिष्ट, मधुर, आत्महितकारी, कोमल वह ऐसी अमृतमयी वचनों की पंक्ति से मेघसमान शिष्यजनों का पोषण करते हुए वह इसप्रकार के वचन कहने लगे वह

राजा को हे राजन् ! देव को हे देव ! सामान्य पुरुष को हे पुत्र ! “हे भव्य ! हे वत्स ! तुम निकट भव्य हो और अब तुम्हारा संसार थोड़ा है, जिससे तुम्हें यह धर्मरुचि उत्पन्न हुई है। अब तुम मेरा वचन अंगीकार करो। मैं तुम्हें जिनवाणी के अनुसार कहता हूँ, अतः चित्त देकर श्रवण करो ह”

“यह संसार महाभयानक है। धर्म बिना इस संसार में कोई किसी भी प्रकार का बन्धु और सहायक नहीं है। इसलिए एक धर्म का ही सेवन करो।”

पश्चात् इसप्रकार मुनिराज का उपदेश पाकर यथायोग्य सब ने जिनधर्म ग्रहण किया। किन्हीं ने मुनि के तथा किन्हीं ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये। किन्हीं ने यथायोग्य प्रतिज्ञा ग्रहण की, किन्हीं ने प्रश्नों के उत्तर सुने और किन्हीं ने अपने-अपने सन्देह का निवारण किया। इसप्रकार नानाप्रकार का पुण्य उपार्जन कर, ज्ञान की वृद्धि कर, मुनिराज को फिर नमस्कार कर, मुनिराज के गुणों का स्मरण करते-करते वे सब अपने-अपने स्थान को चले गए।

जिसप्रकार बन्धनरहित स्वेच्छाचारी हाथी वन में ही गमन करता है; उसीप्रकार मुनि महाराज भी गमन करते हैं। जिसप्रकार हाथी धीरे-धीरे सूँड़ को चलाता हुआ, सूँड़ से भूमि को स्पर्श करता हुआ, सूँड़ को इधर-उधर फैलाता हुआ एवं धरती को सूँड़ से सूँघता हुआ ह्य निःशंक-निर्भय गमन करता है; उसीप्रकार मुनि महाराज धीरे-धीरे ज्ञानदृष्टि से भूमि को शोधते हुए निर्भय, निःशंक एवं स्वेच्छाचारपूर्वक विहार-कार्य करते हैं।

मुनिराज के भी नेत्रों के द्वार से ज्ञानदृष्टि भूमि पर्यन्त फैली है; यही इनकी सूँड़ है, जिससे हाथी की उपमा सम्भवित है। गमन करते हुए वे जीवों की विराधना नहीं चाहते अथवा मुनि गमन ही नहीं करते; अपितु भूली हुई निज निधि को देखते जाते हैं। गमन करते-करते ही स्वरूप में लग जाते हैं, तब खड़े रह जाते हैं। फिर शुद्धोपयोग से नीचे उतरते हैं, तब फिर गमन करते हैं। बाद में एकान्त में बैठकर आत्मिकध्यान करते हैं और आत्मिकरस पीते हैं।

मुनिराज की स्वरूपगुप्ति वह जैसे कोई क्षुधा से पीड़ित तृषावान पुरुष, ग्रीष्म ऋतु में मिश्री की डली से घुला-मिला शीतल जल अत्यन्त रुचि से गटक-गटक कर पीता है और अत्यन्त तृप्त होता है; वैसे ही शुद्धोपयोगी महामुनि स्वरूपाचरण में अत्यन्त तृप्त हैं, बार-बार उसी रस को चाहते हैं। उसको छोड़ किसी समय, पूर्व की वासना से शुभोपयोग में लगते हैं, तब यह जानते हैं कि मेरे ऊपर आफत आई है। यह हलाहल विष के समान आकुलता मुझसे कैसे भोगी जाए ? इससमय मेरा आनन्दरस निकल गया। पुनः मुझे आनन्दरस की प्राप्ति होगी कि नहीं ? हाय ! हाय ! अब मैं क्या करूँ ? यह मेरा स्वभाव है क्या ?

मेरा स्वभाव तो एक निराकुलित, बाधरहित, अतीन्द्रिय, अनुपम स्वरस पीने का है; अतः वही मुझे प्राप्त हो।



जैसे समुद्र में मग्न हुआ मच्छ बाहर निकलना नहीं चाहता तथा बाहर निकलने में समर्थ भी नहीं है; वैसे ही मैं ज्ञानसमुद्र में डूबकर फिर नहीं निकलना चाहता। एक ज्ञानरस को ही पिया करूँ, आत्मिकरस बिना और किसी में रस है ही नहीं। सारे जग की सामग्री चेतनारस के बिना जड़स्वभाव धारण करनेवाली फीकी है; जैसे लवण बिना अलोनी रोटी फीकी है।

उसीप्रकार ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष है, जो ज्ञानामृत को छोड़, औपाधिक आकुलतासहित दुःखरूप आचरण करे ? कभी भी ऐसा आचरण नहीं करते। ऐसे शुद्धोपयोगी महामुनि ज्ञानरस के लोभी और आत्मिकरस के स्वादी निजस्वभाव से छूटते समय इस भाँति खेद-खिन्न होते हैं।

वे महामुनि ध्यान ही धारण करते हैं, उनका ध्यान देखकर ऐसा लगता है मानो वे केवली भगवान एवं प्रतिमा की होड़ करते हैं। वे ऐसा चिन्तन करते हैं।

हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मैंने भी निज स्वरूप को पाया है, अतः इसीसमय मैंने निजस्वरूप का ही ध्यान किया है; आपका ध्यान नहीं किया। आपके ध्यान में मुझे निजस्वरूप का ही ध्यान करते हुए विशेष आनन्द/अतीन्द्रिय-आनन्द होता है। मुझे अनुभवपूर्वक प्रतीति है और आगम में आपने भी ऐसा ही उपदेश दिया है।

वीतराग एवं सर्वज्ञता को नमस्कार हूँ “हे भव्यजीवो ! कुदेवों की पूजा से अनन्त संसार में भ्रमण करोगे तथा नरकादि के दुःख सहोगे और वीतराग-सर्वज्ञ भगवान को पूजने से स्वर्गादि के मन्द क्लेश सहन करोगे। निजस्वरूप में रहोगे तो नियम से मोक्ष पाओगे।”

इसलिए हे भगवन् ! मैंने आपके ऐसे उपदेश से वीतराग सर्वज्ञ भगवान को जाना तथा जो वीतराग सर्वज्ञ हैं, वे ही सर्वप्रकार से जगत

में पूज्य हैं। इसप्रकार वीतराग सर्वज्ञ भगवान को जानकर, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

सर्वज्ञता के बिना तो सर्व पदार्थों का स्वरूप ही नहीं जाना जा सकता हूँ वीतरागता के बिना, राग-द्वेष को वश में करके यथार्थ उपदेश नहीं दिया जा सकता। अन्य स्थानों में या तो अपनी सर्वप्रकार निन्दा का ही उपदेश है अथवा सर्वप्रकार से अपनी बढ़ाई और महन्तता का ही उपदेश है। ऐसे ये लक्षण भलीभाँति कुदेव आदि में सम्भवित हैं।

इसलिए हे भगवन् ! मैं इन कुदेवादि के लक्षणों से रहित हूँ, इसलिए मेरे स्वरूप की बढ़ाई करता हूँ; अतः मुझे दोष नहीं, एक राग-द्वेष का ही दोष है। मेरा वह राग-द्वेष आपके प्रसाद से विलीन हो गया है।

इन शुद्धोपयोगी महामुनि के राग और द्वेष में समानता है, इनके लिए असत्कार और सत्कार समान हैं, इनकी दृष्टि में रत्न और कौड़ी समान हैं, इनके लिए उपसर्ग-अनुपसर्ग समान हैं तथा जिनके लिए मित्र-शत्रु समान हैं।

वे समान कैसे हैं ? वही कहते हैं हूँ पूर्व से ही तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, कामदेव, विद्याधर, बड़े मण्डलेश्वर, मुकुटबद्ध राजा इत्यादि मोक्षलक्ष्मी के लिए संसार, देह और भोगों से विरक्त होकर, राजलक्ष्मी को तुच्छ तृण की भाँति छोड़कर, संसारबन्धन को हाथी की भाँति तोड़कर, वन में जाकर दीक्षा धारण करते हैं। निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा का आदर करते हैं। उसके बाद परिणामों के माहात्म्य से उनको नानाप्रकार की ऋद्धियाँ स्फुरित होती हैं।

मुनि की ऋद्धि शक्ति हूँ वह ऋद्धि शक्ति कैसी है ? कायबली ऋद्धि के बल से चाहे जितना छोटा-बड़ा शरीर बना लें हूँ ऐसी सामर्थ्य होती है। वचन बल ऋद्धि से द्वादशांग शास्त्र का अन्तर्मुहूर्त में चिन्तन कर लेते हैं। आकाश में गमन करते हैं। जल के ऊपर गमन करते हैं;

परन्तु जल के जीवों की विराधना नहीं करते हैं। भूमि में समा जाते हैं; परन्तु पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना नहीं करते हैं।

यदि कहीं विष बह रहा हो और वे उसे शुभदृष्टि से देखें तो वह अमृत हो जाता है; परन्तु मुनि महाराज ऐसा नहीं करते हैं तथा यदि कहीं अमृत बह रहा हो और मुनि महाराज क्रूरदृष्टि से देखें तो विष हो जाए; परन्तु वे ऐसा भी नहीं करते हैं।

सुखी, दया एवं शान्ति की दृष्टि से देखें तो कितने ही योजन के जीव सुखी हो जाएँ; दुर्भिक्ष आदि, ईति-भीति, दुःख मिट जाएँ। यदि ऐसी शुभ ऋद्धि दयालु बुद्धि से स्फुरित हो तब तो दोष नहीं; किन्तु यदि क्रूरदृष्टि से देखें तो कितने ही योजन के जीव भस्म हो जाएँ; परन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं।

जिनके शरीर का गन्धोदक, नौ द्वारों के मल, चरणों के तल की धूल तथा शरीर से स्पर्शित वायु आदि, शरीर को लगते ही कोढ़ आदि सबप्रकार के रोग नियम से नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

ऐसे मुनि महाराज जिस गृहस्थ के यहाँ आहार करते हैं, उसकी भोजनशाला में नानाप्रकार की ऐसी असीम रसोई हो जाए कि यदि उस दिन चक्रवर्ती का सर्व कटक/ सेना भोजन करे तो भी भोजन कम न हो। चार हाथ की रसोई के क्षेत्र में ऐसी अवगाहना शक्ति हो जाती है कि चक्रवर्ती की सम्पूर्ण सेना समा जाए और सभी पृथक्-पृथक् बैठकर भोजन करें, तब भी स्थान कम न पड़े।

जहाँ मुनि आहार करें, वहाँ उसके द्वार पर रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, गन्धोदकवृष्टि, जय-जयकार शब्द और देवदुन्दभि ह्वये पंचाश्चर्य होते हैं।

आहारदान का फल ह्वे सम्यग्दृष्टि श्रावक, मुनि को यदि एकबार आहार दे तो कल्पवासी देव ही होता है। मिथ्यादृष्टि एकबार मुनि को

आहार दे तो उत्तमभोग भूमि का मनुष्य ही होता है, फिर परम्परा से मुक्ति को जाता है। शुद्धोपयोगी मुनि को एकबार भोजन देने का ऐसा अद्भुत फल होता है।

मुनिराज मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान के भी धारी होते हैं; अनेकप्रकार के गुण संयुक्त होते हुए भी कोई पुरुष, आकर मुनि को गाली देता है एवं उपसर्ग करता है तो उस पर बिलकुल भी क्रोध नहीं करते; अपितु परम दयालु बुद्धि होने से उसका भला ही चाहते हैं।

वे ऐसा विचार करते हैं कि यह भोला जीव है, इसे अपने हित-अहित की खबर नहीं है। यह जीव इन परिणामों से बहुत दुःख पायेगा। मेरा तो कुछ बिगाड़ नहीं है; परन्तु यह जीव संसार-समुद्र में डूबेगा। इसलिए जो कुछ भी हो, इसको समझाना चाहिए ह्वे ऐसा विचार कर भव्यजीवों को हित-मित-प्रिय वचन, दयारूपी अमृतपूर्वक आनन्दकारी वचनों का निम्नप्रकार उच्चारण करते हैं ह्वे

“हे पुत्र ! हे भव्य ! तुम स्वयं अपने को संसार-समुद्र में मत डुबाओ। तुम्हें इन परिणामों का खोटा फल लगेगा। तुम निकट भव्य हो; तुम्हारी आयु भी थोड़ी रही है; अतः अब सावधान होकर जिनप्रणीत धर्म अंगीकार करो। इस धर्म के बिना तुम अनादि से संसार में रुले हो और तुमने नरक-निगोद आदि के नानाप्रकार के दुःख सहे हैं, उन्हें तुम भूल गए हो।”

ऐसे दयालु श्रीगुरु के वचन सुनकर वह पुरुष संसार के भय से कम्पायमान होता हुआ, शीघ्र ही गुरु के चरणों में नमस्कार कर, अपने किये गये अपराध की निन्दा करता हुआ, हाथ जोड़कर, खड़ा होकर निम्नप्रकार वचन कहता है ह्वे

“हे प्रभु ! हे दया सागर ! मेरे ऊपर क्षमा करो, क्षमा करो ! हाय, अब मैं क्या करूँ ? मेरे इस पाप की निवृत्ति कैसे हो ? मेरा कौन-सा

पाप कर्म उदय में आया, जो मुझे यह खोटी बुद्धि उत्पन्न हुई। बिना अपराध किये मुनिराज पर उपसर्ग किया, जिनके चरणों की सेवा इन्द्रादिक को भी दुर्लभ है।”

“मैं रंक और ये परम उपकारी एवं त्रैलोक्य में पूज्य ! मैंने क्या जानकर इन पर उपसर्ग किया ? हाय ! हाय ! अब मेरा क्या होगा ? मैं किस गति में जाऊँगा ?” इसप्रकार वह पुरुष बहुत विलाप करता हुआ और हाथ मलता हुआ मुनिराज के चरणों में बारम्बार नमस्कार करता है।

जैसे कोई पुरुष समुद्र में डूबते समय, जहाज का अवलम्बन लेता है; वैसे ही मैं गुरु के चरणों का अवलम्बन लेता हूँ। यह निश्चय जानता हूँ कि अब मुझे इन्हीं के चरणों की शरण है, अन्य शरण नहीं। यदि मैं इनके चरणों की सेवा करूँ तो ही मैं इस गाली देना और उपसर्ग के अपराध से बच सकता हूँ; अन्य कोई उपाय नहीं है। मेरे दुःख मिटाने में ये ही समर्थ हैं।

पश्चात् इस पुरुष की धर्म-बुद्धि को देखकर श्रीगुरु फिर बोले ह्व “हे वत्स ! तुम डरो मत, तुम्हारा संसार निकट आया है ! इसलिए अब तुम धर्मामृत रसायन का पान करो और जन्म-जरा-मरण के दुःखों का नाश करो।” ह्व मुनिराज ऐसे अमृतमयी वचनों से उस पुरुष का पोषण करते हैं, जैसे ग्रीष्म ऋतु में मुरझाई वनस्पति का मेघ पोषण करते हैं।

महन्त पुरुषों का यह स्वभाव ही है कि अवगुण ऊपर गुण ही करें। दुर्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है कि गुण ऊपर भी अवगुण ही करें। ऐसे गुरु तारने में समर्थ क्यों नहीं हों ? होते ही होते हैं।

अब ये शुद्धोपयोगी वीतरागी संसार-भोग-साम्रगी से उदासीन, शरीर से निस्पृह शुद्धोपयोग की स्थिरता के लिए शरीर को आहार किस भाँति देते हैं, उसका वर्णन करते हैं।

मुनिराज के आहार लेने के पाँच प्रयोजन ह्व प्रथम प्रयोजन गोचरी

ह्व जैसे गाय को कोई रंक अथवा राजा घास आदि डाले, तो गाय को तो चरने का ही प्रयोजन है, किसी पुरुष से प्रयोजन नहीं है; वैसे ही मुनि को कोई रंक या राजा आदि पड़गाह कर आहार दे, तो उन्हें तो आहार लेने का ही प्रयोजन है, रंक अथवा राजा से प्रयोजन नहीं है।

दूसरा प्रयोजन भ्रामरी ह्व जैसे भौरा उड़ता हुआ फूल की वास-गन्ध लेता है, फूल का विराधक नहीं है; वैसे ही मुनिराज गृहस्थ के घर आहार लेते हैं; परन्तु गृहस्थ को लेश मात्र खेद उत्पन्न नहीं होता है।

तीसरा प्रयोजन दाह शमन ह्व जैसे आग लगी हो तो उसे जिस तिस प्रकार बुझा देना चाहते हैं; उसीप्रकार मुनि को उदराग्निरूपी अग्नि है, उसको जैसा-तैसा शुद्ध आहार मिले, उसे बुझाते हैं, अच्छे-बुरे स्वाद का प्रयोजन नहीं है।

चौथा प्रयोजन अक्षमृक्षण ह्व जिसप्रकार गाड़ी ओंगन बिना नहीं चलती, उसीप्रकार मुनिराज यह जानते हैं कि यह शरीर बिना आहार दिये नहीं चलता, शिथिल होता है। मुझे तो इसके सहारे संयम आदि गुण एकत्र कर मोक्ष पहुँचना है।

पाँचवाँ प्रयोजन गर्तपूरण ह्व जिसप्रकार किसी पुरुष का खाई-खात आदि का गड्ढा खाली हो गया हो, तो वह पुरुष पत्थर, मिट्टी, ईंटों को जोड़कर पूर देना चाहता है; उसीप्रकार मुनिराज का निहार आदि से उदररूपी गड्ढा खाली हो जाता है तो उसे जिस-तिस शुद्ध आहार से भरते हैं।

ह्व इसप्रकार पाँचप्रकार का अभिप्राय जानकर वीतरागी मुनिराज शरीर की स्थिरता के लिए आहार लेते हैं।

शरीर की स्थिरता से परिणामों की स्थिरता होती है और मुनिराज को परिणाम बिगड़ने-सुधरने का उपाय ही निरन्तर रहता है। जिस बात से राग-द्वेष न उपजे, उस क्रियारूप प्रवर्तते हैं, अन्य कुछ प्रयोजन नहीं है।

नवधा भक्ति ह ऐसे शुद्धोपयोगी मुनिराज को गृहस्थ, दातार के सात गुणों से संयुक्त होकर, नवधाभक्तिपूर्वक आहार देते हैं, वही कहते हैं ह (1) प्रतिग्रहण ह अर्थात् प्रथम तो मुनिराज को पड़गाहे, पश्चात् (2) उच्चस्थापन अर्थात् मुनि को उच्च स्थान पर स्थापित करे। प्रक्षालन करे, उससे हुए (3) पादोदक ह अर्थात् मुनिराज के पदकमल/चरणों का गन्धोदक अपने मस्तकादि उत्तम अंग में कर्म के नाश के लिए लगाये और अपने को धन्य एवं कृतकृत्य माने, पश्चात् (4) अर्चन ह अर्थात् मुनिराज की पूजा करे, पश्चात् (5) प्रणमन ह अर्थात् मुनिराज के चरणों को नमस्कार करे, पश्चात् (6) मनशुद्धि ह अर्थात् मन प्रफुल्लित कर महा हर्षायमान हो, पश्चात् (7) वचनशुद्धि ह अर्थात् मीठे-मीठे वचन बोले (8) कायशुद्धि ह अर्थात् विनयवान होकर शरीर के अंग-उपांगों को नम्रीभूत करे, पश्चात् (9) एषणाशुद्धि ह अर्थात् दोषरहित शुद्ध आहार देवे ह इसप्रकार नवधाभक्ति का स्वरूप जानना।

आगे दातार के सात गुण कहते हैं ह (1) श्रद्धावान, भक्तिमान, शक्तिमान, विज्ञानवान और शांतियुक्त हो (2) मुनिराज को आहार देकर लौकिक फल की वांछा न करे (3) क्षमावान हो (4) कपटरहित हो (5) अधिक सयाना (सयानापन दिखानेवाला) न हो (6) विषाद-रहित हो, हर्षसंयुक्त हो (7) अहंकाररहित हो ह ऐसे सात गुणसहित दातार जानना।

ऐसा दातार स्वर्गादि के सुख भोगकर परम्परा से मोक्षस्थान तक पहुँचता है ह ऐसे शुद्धोपयोगी मुनिराज तरण-तारण हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु ह उनके चरण कमल में मेरा नमस्कार हो।

हे मुनिराज ! आप कल्याण के कर्ता हो, भवसागर में गिरते हुए जीवों की रक्षा करो। इसप्रकार मुनिराज के स्वरूप का वर्णन किया।

हे भव्य ! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो सदैव ऐसे गुरु के चरणारविन्द की सेवा करो और अन्य का सेवन दूर से ही छोड़ दो।

इसप्रकार आचार्य, उपाध्याय और साधु ह इन तीन प्रकार के गुरुओं का वर्णन किया। तीनों ही शुद्धोपयोगी हैं; इसलिए समानता है, विशेषता नहीं। इसप्रकार गुरु की स्तुति करके एवं नमस्कार करके उनके गुणों का वर्णन किया।

जिन्होंने राजलक्ष्मी को छोड़कर मोक्ष के लिए दीक्षा धारण की है तथा जिनको अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियाँ प्रकट हुई हैं और जो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यज्ञान से संयुक्त हैं; महा दुर्धर तप से संयुक्त हैं; निःकषाय हैं, छियालीस दोष टालकर आहार लेते हैं। अट्टाईस मुल्लगुणों में अतिचार भी नहीं लगाते हैं। इयासमिति को पालते हुए साढ़े तीन हाथ पृथ्वी शोधते हुए विहार करते हैं।

भाव यह है कि किसी भी जीव की विराधना नहीं चाहते हैं। भाषा-समिति से हित-मित-प्रिय वचन बोलते हैं। उनके वचन से कोई जीव दुःख नहीं पाता है। इसप्रकार सर्व जीवों के दयालु जगत में गुरु शोभायमान होते हैं ह ऐसे सर्वोत्कृष्ट देव, गुरु, धर्म ह इनको छोड़कर जो विचक्षण पुरुष हैं, वे कुदेवादि को कैसे पूजें (कैसे पूज सकते हैं)?

प्रत्यक्ष ही जगत में जिनकी हीनता दिखाई देती है, जगत में जितने भी राग-द्वेष आदि अवगुण हैं, वे सब कुदेवादि में पाए जाते हैं। उनका सेवन करने से जीव का उद्धार कैसे हो ? यदि उनके ही सेवन करने से उद्धार हो, तो जीव का बुरा किनके सेवन करने से हो ?

जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, आरम्भ-परिग्रह आदि जो महापाप हैं, उनके ही सेवन करने से यदि स्वर्गादि के सुख को पाये, तो नरकादि के दुःख क्या करने से पायें ? वह तो दिखाई नहीं देता।

और भी कहते हैं कि ह देखो, इस जगत में उत्कृष्ट वस्तुएँ थोड़ी ही

दिखाई देती हैं; जैसे कि हीरा, माणिक, पन्ना जगत में थोड़े हैं; कंकर-पत्थर आदि बहुत हैं। राजा, बादशाह आदि महन्त पुरुष थोड़े हैं और रंकादिक पुरुष बहुत हैं। धर्मात्मा पुरुष थोड़े हैं और पापी पुरुष बहुत हैं।

इसप्रकार अनादिनिधन वस्तु का स्वभाव स्वयमेव ही बना है। उसके स्वभाव को मिटाने के लिए कोई समर्थ नहीं है। इसलिए तीर्थंकर ही सर्वोत्कृष्ट हैं, जो इससमय विदेहक्षेत्र में पाये जाते हैं।

कुदेवों का वृन्द/समूह वह वर्तमान काल में निरन्तर अगणित पाया जाता है, उनमें से किस-किस कुदेव को पूजें? वे परस्पर रागी-द्वेषी हैं, उनमें कोई कहें हूँ मुझे पूजो, कोई कहें हूँ मुझे पूजो और पूजनेवाले से खाने को माँगे तथा यह कहें हूँ “मैं बहुत दिनों का भूखा हूँ।” जब वे ही भूखे हैं तो उत्कृष्ट वस्तु देने में वे कैसे समर्थ होंगे?

जिसप्रकार कोई रंकपुरुष भूख से पीड़ित होकर घर-घर से अन्न का दाना, रोटी का टुकड़ा एवं जूठन आदि माँगता फिरता हो; और कोई अज्ञानी पुरुष उससे उत्कृष्ट धन आदि सामग्री माँगे तथा उनके लिए उसकी सेवा करे, तो वह पुरुष क्या हँसी का पात्र नहीं होगा? अवश्य ही होगा।

इसलिए श्रीगुरु कहते हैं हूँ “हे भाई! तुम मोह के वशीभूत होकर आँखों देखी वस्तु झूठी मत मानो। जीव इस भ्रमबुद्धि से ही अनादिकाल से, जैसे थाली में मूँग रुलती है/इधर-से उधर लुढ़कती है, वैसे ही रुल रहा है।”

जैसे किसी पुरुष को तो तीव्र दाहज्वर का रोग लग रहा हो और अज्ञानी वैद्य तीव्र उष्णता का ही उपचार करे तो वह पुरुष कैसे शान्ति को प्राप्त हो सकता है?

वैसे ही यह जीव अनादि से मोह से दग्ध हो रहा है तथा इस मोह की वासना इस जीव के स्वयमेव ही बिना उपदेश के ही बन रही है।

उससे तो आकुल-व्याकुल तथा महादुःखी हो रहा है, पुनः ऊपर से गृहीत मिथ्यात्वादि का बारम्बार सेवन करता है तो उसके दुःख का क्या पूछना है?

अगृहीत मिथ्यात्व से गृहीत मिथ्यात्व का फल अनन्तगुना खोटा अर्थात् दुःखदायी होता है। सो यह गृहीत मिथ्यात्व तो द्रव्यलिंगी मुनि ने सर्वप्रकार छोड़ा है और अगृहीत मिथ्यात्व के भी अनन्तवें भाग इतना हलका अगृहीत मिथ्यात्व उनके पाया जाता है। वे नानाप्रकार के दुर्धर तपश्चरण करते हैं, अट्टाईस मुलगुण पालते हैं, बाईस परीषह सहन करते हैं, छियालीस दोष टालकर आहार लेते हैं तथा अंशमात्र कषाय नहीं करते हैं। सर्व जीवों के रक्षपाल/रक्षक होकर जगत में प्रवर्तन करते हैं तथा नानाप्रकार के शील-संयमादि गुणों से सुशोभित हैं।

नदी, पर्वत, गुफा, श्मशान, निर्जन और शुष्क वन में जाकर ध्यान करते हैं तथा मोक्ष की अभिलाषा रहती है, संसार के भयों से डरते हैं। एक मोक्षलक्ष्मी के ही लिए राज्यादि विभूति छोड़कर दीक्षा धारण करते हैं। इतना सब होते हुए भी कदापि मोक्ष नहीं पाते हैं।

मोक्ष क्यों नहीं पाते हैं? इनके सूक्ष्म केवलज्ञानगम्य ऐसे मिथ्यात्व का प्रबलपना पाया जाता है; इसलिए मोक्ष का पात्र नहीं, संसार का ही पात्र है तथा जिनके पास बहुत प्रकार के मिथ्यात्व का प्रबलपना पाया जाता है तो मोक्ष कैसे हो? झूठे ही भ्रमबुद्धि से माने तो प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

दृष्टान्त है हूँ जैसे अज्ञानी बालक मिट्टी का हाथी, घोड़ा, बैल आदि बनाता है, उसको सत्य मानकर बहुत प्रीति करता है तथा उस सामग्री को पाकर बहुत प्रसन्न होता है। पश्चात् उसको कोई फोड़े/तोड़े अथवा ले जाए तो बहुत दुःखी होता है; रोता है और छाती, माथा आदि कूटता है; उसको ऐसा ज्ञान नहीं है कि ये सब झूठे कल्पित हैं।

वैसे ही अज्ञानी मोही-पुरुष बालक के समान कुदेवादिक को तारण-तरण मानकर उनकी सेवा (उपासना) करता है। उसे ऐसा ज्ञान नहीं है कि ये स्वयं तरने में असमर्थ हैं तो मुझे कैसे तारेंगे ?

दूसरा दृष्टान्त कहते हैं ह्व किसी पुरुष ने काँच का टुकड़ा पाया तथा उसमें चिन्तामणि रत्न की बुद्धि की। यह जाना कि यह चिन्तामणि रत्न है, अतः मुझे यह बहुत सुख देनेवाला होगा, यह मुझे मनवांछित फल देगा ह्व इसप्रकार भ्रमबुद्धि से काँच के टुकड़े को पाकर ही प्रसन्न हुआ तो क्या वह चिन्तामणि रत्न हो गया ? और क्या उससे मनवांछित फल की सिद्धि होगी ? कदापि नहीं होगी। काम पड़ने पर उसकी आराधना करे तथा उसको बाजार में बेचे तो दो कौड़ी की प्राप्ति होगी।

इसीप्रकार कुदेवादि को अच्छा जानकर अनेक जीव सेवा करते हैं; किन्तु उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और पूरी तरह परलोक में नरकादिदुःख ही सहन करना पड़ते हैं। इसलिए Hw\$Xodm{X H\$m godZ Vmo Xyahrāmo; {H\$W CZH\$řWZna/g mahm^rC{WZth;Y&

जिसप्रकार सर्पादि क्रूर जीवों का संसर्ग उचित नहीं, उसीप्रकार कुदेवादि का संसर्ग उचित नहीं। सर्पादि और कुदेवादि में इतना विशेष है कि सर्पादि के सेवन से तो एकबार ही प्राणों का नाश होता है और कुदेवादि के सेवन से पर्याय-पर्याय में अनन्तबार प्राणों का नाश होता है तथा नानाप्रकार के नरक-निगोद के दुःख को सहते हैं; इसलिए सर्पादि का सेवन श्रेष्ठ है, किन्तु कुदेवादि का सेवन श्रेष्ठ नहीं है।

ह्व इसप्रकार कुदेवादि का सेवन अनिष्ट जानना। इसलिए जो विचक्षण पुरुष अपना हित चाहते हैं, वे शीघ्र ही कुदेवादि का सेवन छोड़ें।

देखो, संसार में तो यह जीव ऐसा सयाना चतुर है और ऐसी बुद्धि लगाता है कि दमड़ी की हाँडी खरीदे तो उसे भी तीन टकोरे देकर,

फूटी-साबुत देखकर खरीदता है तथा धर्म उत्कृष्ट वस्तु है, जिसके सेवन करने से अनन्त संसार के दुःख से छूटता है, उसे अंगीकार करने में अंशमात्र भी परीक्षा नहीं करता।

लोक में तो भेड़ की चाल जैसा प्रवाह है। जैसे अन्य लोग पूजा करें तथा सेवन करें, वैसे ही यह भी पूजा तथा सेवन करता है। यह भेड़ की चाल कैसी है ? भेड़ को ऐसा विचार नहीं है कि आगे खाई है या कुआ है, सिंह है या व्याघ्र है ह्व इसप्रकार बिना विचार के एक भेड़ के पीछे सारी भेड़ें चली जाती हैं। आगे की भेड़ खाई में गिर जाए तो पीछे की सभी भेड़ें भी खाई में गिर जाती हैं अथवा अगली भेड़ सिंह या व्याघ्रादि के स्थान में जाकर फँस जाए तो पिछली भेड़ें भी जाकर फँस जाती हैं।

उसीप्रकार यह संसारी जीव है, जो बड़ों पूर्वजों के कुल में खोटा/ मिथ्या मार्ग चला आया हो तो यह भी खोटे मार्ग में चलता है अथवा अच्छा मार्ग चला आया हो तो भी इसके ऐसा विचार नहीं है कि अच्छा मार्ग कैसा है और खोटा मार्ग कैसा है ? ह्व ऐसा ज्ञान हो तो खोटे मार्ग को छोड़ अच्छे मार्ग को ग्रहण करे।

इसलिए एक ज्ञान की ही प्रशंसा है, जिसमें ज्ञान विशेष है, उसी को जगत पूजता है और उसी का सेवन करता है। जो ज्ञान है, वह जीव का निज स्वभाव है; इसलिए धर्म की परीक्षा करके ग्रहण करना।

ह्व इसप्रकार साधु का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ।



रत्नत्रयविशुद्धः सन्यात्रस्नेही परार्थकृत।

परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥३०॥

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप 'रत्नत्रय' के धारक हैं, निष्पृह भाव से पात्र जीवों/शिष्यों पर स्नेह रखते हैं, जीवों को मोक्षमार्ग में लगानेरूप परोपकार करते हैं, यति धर्म का निरतिचार पालन करते हैं और दुःखरूप संसार से जीवों को मुक्ति दिलाते हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं।

### निजात्मा का ज्ञान ही कर्म नष्ट करने का उपाय

कोऽहं कीदृग्गुणः कृत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः ।

इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥७८॥

मैं कौन हूँ ? मुझमें कौन-से गुण हैं ? मैं इस मनुष्यगति में किस गति से आया हूँ ? इस भव में मुझे क्या प्राप्त करना है ? मेरा साध्य क्या है ? जो मेरा साध्य मोक्षमार्ग है, उसके लिए निमित्त क्या हो सकते हैं ? इसप्रकार के विचार प्रतिदिन न हों तो बुद्धि अयोग्य विषयों में प्रवृत्त होती है ।

आत्मस्वरूप का यथार्थ चिन्तन न हो तो बुद्धि कुमार्ग में प्रवृत्त होती है अर्थात् सन्मार्ग/मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होना हो तो आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही एकमात्र अमोघ उपाय है । कुमार्ग अर्थात् मिथ्यामार्ग/संसारमार्ग/दुःखमार्ग का मूलकारण तो मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व को अज्ञानी नानाप्रकार से सुरक्षित रखना चाहता है । कर्म बलवान है, यह मान्यता भी मिथ्यात्व ही है; क्योंकि यह विचार वस्तुस्वरूप से विपरीत है । मिथ्यात्व का नाश करना, कर्म का नाश करना, मोक्षमार्ग प्राप्त करना, आत्मज्ञान प्राप्त करना अथवा सच्चा सुख प्राप्त करना ह्व इन सबका अर्थ एक ही है । इनके लिए साधन भी एकमात्र आत्मचिन्तन/आत्मध्यान ही है । आत्मध्यान के लिए आत्मस्वरूप की ज्ञान चाहिए । ज्ञान के बिना ध्यान हो ही नहीं सकता ।

अतः यहाँ आचार्य श्री वादीभसिंह आत्मज्ञान करा रहे हैं ह्व

1. मैं एक, अनादि-अनन्त, आनन्दकन्द, अनन्त गुणों का गोदाम, सिद्ध समान, अनन्त चतुष्टयस्वभावी, चैतन्यमय, परम स्वतन्त्र भगवत्स्वरूप आत्मा हूँ । वर्तमान मनुष्यपर्याय मात्र मैं नहीं हूँ । पर्याय तो नाशवान होती है; परन्तु मैं तो अविनाशी जीवतत्त्व हूँ ।

2. मुझमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त विशेष गुण हैं और अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्य गुण हैं, जो सभी अविनश्वर हैं ।

3. वास्तव में देखा जाए तो मुझे मोक्ष ही प्राप्त करना है; किन्तु साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति इस पंचमकाल में शक्य नहीं है । अतः मोक्षमार्ग तो प्राप्त करना ही है । मोक्षमार्ग रत्नत्रयरूप है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है; अतएव आत्मानुभवस्वरूप सम्यग्दर्शन के लिए मुझे प्रयत्न करना है ।

4. सम्यग्दर्शन के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और तत्त्वनिर्णय ही प्रधान निमित्त है ।

इसप्रकार प्रतिदिन चिन्तन-मनन चलता रहे तो विपरीत मान्यता के लिए अवकाश ही नहीं रहता है, तब कर्म बलवान कैसे हो सकता है ?

क्षत्रचूड़ामणि : पहला लम्ब, श्लोक- ७८, पृष्ठ ९६-९७, ९८